"श्री वीतरागाय नम."

भूमिका

यह सर्व विदित है कि मानव की सुसस्कृति और सभ्यता के विकास मे धर्म का अनन्त २ काल से महत्त्व पूर्ण स्थान माना गया है। आज मानव जाति मे हमे जो कुछ भी श्रेय रूप नजर आ रहा है वह एक धर्म का ही सुन्दर प्रतिबिम्ब है। धर्म ने ही मनुष्य के जीवन को उच्च से उच्चतर बनाया है। धर्म क्या है? धर्म है मनुष्य के हृदय से उठी हुई एक सर्वोच्च पवित्र मनोभावना। जितने भी जीवनोत्थान करने वाले सद्गुण है उन सब का मूल श्रोत धर्म ही है। सत्य, अहिसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह यह धर्म रूपी सुन्दर भवन के पाँच मूल स्तम्भ है। भारत वर्ष मे जितने भी आस्तिक दर्शन है, उन सभी ने इन पाँच महान् व्रतो को अवश्य माना है।

अहिसा ही एक ऐसी सर्वप्रिय वस्तु है, जिसके पालन करने से ससार मे स्थाई शान्ति स्थापित की जा सकती है। आज जब कि चारो ओर से हिसा राक्षसी का नग्न ताण्डव नृत्य हो रहा है और यह सर्वभक्षी सर्वतोमुखी बन के मानव का भक्षण करती जा रही है, और इसे जन सहार की ओर धकेल रही है, राष्ट्र २ का, जाति जाति का, भाई २ का, पिता पुत्र का दुश्मन बना हुआ है। कलेश, द्वेष का दावानल चारो ओर धदक रहा है। ऐसे विकट समय मे अहिसा भगवती का अधिकाधिक पालन करना ही मानव के लिए परम आवश्यक है।

इस पुनीत भारत भूमि के सपूत अनेक ऋपि, महर्पि, सत, महात्मा अहिंसा भगवती का प्रचार और प्रसार करते आए है। सच पूछा जाए तो बात यह है कि अहिंसा जन कल्याण कारिणी अनन्त २ काल से जो सजीवित रूप से प्राणवती हो कर जन कल्याण कर रही है, यह श्रेय साधु सतो के अहिंसा मय प्रचार और प्रसार को ही है। आज भी इस गए गुजरे विपाक्त जमाने मे बहुत सारे साधु सत अहिंसा की पवित्र ध्वजा को लहरा रहे है और जन-कल्याण कर रहे है। उन्ही सन्तो मे से जैन भूपण, पंजाव केसरी श्री प्रेमचन्द जी महाराज भी एक है। जिन्होने फ्रटियर प्रान्त, रावलपिंडी से लेकर पंजाव, उत्तर प्रदेश, राजस्थान (मारवाड, मेवाड आदि), मालवा, सौराष्ट्र गुजरात, काठियावाड, महाराष्ट्र आदि दूर दूरान्तर प्रदेशो मे पैदल विहार कर अनेक दुस्सह कष्टों को सहन कर अहिंसा भगवती जन कल्याण कारणी का अधिक से अधिक प्रचार और प्रसार किया है। हिंसक प्राणियो को हिंसा का परित्याग करवा कर हजारो नही वल्कि लाखो मूक प्राणियो को अभय और जीवित दान दिया है। वे मूक प्राणी आज भी अपनी मूक भापा मे आपके गुण गान कर रहे है।

महाराज श्री जी ने पूर्वोक्त प्रान्तो मे घूम २ कर जो प्रवचन जनहित के लिये दिये उन मे से कुछ एक प्रवचन लेखवद्ध किए गए है। जिनको 'प्रेमसुधा' नाम से वारह विभागो मे पहले प्रकाशित किया जा चुका है। जिस को जनता ने खूब ही सादर भाव से अपनाया है। अव यह प्रेमसुधा नामक तेरहवाँ भाग भी प्रकाशित होकर आप सज्जनो के कर कमलो मे आ रहा है। इस मे क्या २ और कहाँ २ किन २ विपयो का विवेचन किया गया है यह तो पाठक

गणो को इसकी अनुक्रमणिका पढने पर ही ठीक रूप से ज्ञात हो सकेगा। किन्तु यहाँ पर इतना ही कहना प्रयाप्त होगा कि इसमे मुख्य रूप से दर्शन विशुद्धि, मिथ्यात्व का निराकरण, आत्मा परमात्मा का सुन्दर समन्वय और है आत्म परमात्य दर्शन। प्रत्येक विपय को सूक्ष्म से सूक्ष्म अथवा कठिन से कठिन होने पर भी अनेक हेतु, उदाहरण दे कर सरल से सरल वनाने का प्रयत्न किया गया है। आशा है कि जिस प्रेम और धर्म उत्साह के द्वारा जनता मे पूर्व प्रकाशित 'प्रेम सुधा' के वारह भागो को अपना कर आत्म-वोध और आत्म-कल्याण किया है, उसी प्रकार आप लोग इसे भी अपना कर आत्म-कल्याण के भागी बनेगे।

इस 'प्रेम सुधा' तेरहवे भाग का प्रकाशन २०१७ के आप श्री के भाटिडा चर्तुमास की स्मृति रूप एस. एस जैन सभा-भाटिडा की ओर से किया गया है।

अत भाटिडा एस एस जैन सभा का वहुत २ धन्यावाद किया जाता है, जिन्होने इस प्रचार के लिए अपनी धनराशि खर्च कर आपने द्रव्य का सदुपयोग किया है।

मिती अषाढ शुक्ला १३, स० २०१७ वि०

आपका सुखाभिलाषी,
तुच्छ सेवक,
मोहन लाल जैन
वी० ए०, वी यड
भटिडा

शीर्षकों का हार

भाव-अरिहन्त की उपासना

अरिहन्त अरिहन्त० ।

धर्म वन्धुओ और धर्म वहिनो !

अरिहन्त भगवान् की स्तुति की गई है। जिस महान् आत्मा ने समस्त दोषो को दूर करके आध्यात्मिक सम्पत्ति प्राप्त कर ली हो, जो सम्पूर्ण ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य को प्राप्त कर चुका हो, जिसमे चौंतीस अतिशय एव पैंतीस वचन के गुण विद्यमान हो और जो शरीर मे स्थित होकर भी मुक्तदशा का अनुभव करता हो, वह अरिहन्त कहलाता है। कहा है —

यो दर्शनज्ञानसुखस्वभाव ,
समस्तससारविकारवाह्य ।
समाधिगम्य परमात्मसज्ञ ,
स देवदेवो हृदये ममास्नाम् ।।

अर्थात्—जो अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान और अनन्त सुख रूप है, जो ससार सम्वन्धी समस्त विकारो से अतीत हो चुका है, जिस का स्वरूप ध्यान के द्वारा ही जाना जा सकता है और जो परमात्मा के पद को प्राप्त कर चुका है, वही देवो का देव मेरे हृदय मे निरन्तर निवास करे।

किसी भी पद का अर्थ स्पष्ट और निश्चित रूप से समझने के लिए तथा वक्ता के अभिप्राय को सही रूप से समझने केलिए

जैन शास्त्रो मे निक्षेपविधि का उपयोग किया जाता है । यह विधि जैनशास्त्रो की एक असाधारण देन है । इसके द्वारा वक्ता के दृष्टि-कोण को बिल्कुल सही रूप मे समझा जा सकता है ।

निक्षेप विधि के अनुसार प्रत्येक शब्द के कम से कम चार अर्थ सभावित हो सकते है और वे है—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव रूप । इस विधि के अनुसार अरिहन्त शब्द से भी चार प्रकार के अरिहन्तो का बोध होता है :—

नाम-अरिहन्त—किसी ने अपने लडके का नाम अरिहन्त रख लिया है और उसमे अरिहन्त के योग्य गुण नही है; उसने घातिया कर्मो का क्षय नही किया है, केवल ज्ञान-दर्शन आदि गुण उसे प्राप्त नही है, उसमे अरिहन्त भगवान् की कोई भी विशेषता नही है, फिर भी 'अरिहन्त' नाम होने के कारण उसे लोग 'अरिहन्त' कहते है । ऐसा अरिहन्त नाम-अरिहन्त कहलाता है ।

स्थापना-अरिहन्त—किसी ने अरिहन्त भगवान् का चित्र बनाया है या पाषाण अथवा धातु की प्रतिमा बनाई है, उसकी आकृति अरिहन्त भगवान् जैसी है, उसे स्थापना-अरिहन्त कहते है ।

उस चित्र अथवा प्रतिमा मे नीला पीला रग दिखाई देता है, मुकुट आदि दिखाई देते है या नही भी दिखाई देते, फिर भी अरिहन्त का अनन्त चतुष्टय उसमे नही है । अरिहन्त भगवान् के वास्तविक गुणो से वह शून्य है ।

कोई स्त्री अपने घर मे अपने पति का चित्र लगा ले तो वह चित्र कमाई करके नहीं ला सकता और न सन्तान को जन्म दे सकता है ।

तो इस प्रकार अरिहन्त की प्रतिमा या चित्र को स्थापना-अरिहन्त कहते हैं।

द्रव्य-अरिहन्त—जो आत्मा अरिहन्त पद प्राप्त नही कर सका है किन्तु तीर्थंकर गोत्र का बन्ध कर चुका है और जो भविष्य मे अवश्य अरिहन्त पद प्राप्त करेगा, वह 'द्रव्य-अरिहन्त' कहलाता है।

आशय यह है कि वर्तमान काल मे जिसमे जो पर्याय नही है, उसे भी भूतकालीन अथवा भविष्यत्कालीन पर्याय के कारण उस पर्याय-वाचक शब्द से कहा जाता है। यह द्रव्य-निक्षेप है।

एक व्यक्ति डाक्टर नही बना है, डाक्टरी की परीक्षा उत्तीर्ण नही कर चुका है, परन्तु वह भविष्य मे डाक्टर बनने वाला है, इसी ख्याल से उसे वर्तमान मे डाक्टर कहा जाता है। वह द्रव्य-डाक्टर है।

कोई पुण्यवान जीव तीर्थंकरगोत्र का बन्ध करके माता के गर्भ मे आया है, जन्म भी हो गया है, तीन ज्ञान का धारक है, अर्थात् मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान प्राप्त है, किन्तु अभी वह गृहस्थावस्था मे है तो वह द्रव्य-तीर्थंकर है। उसे साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका नमस्कार नही करते। वह तीर्थंकर होने वाला है पर है नही।

उसे नमस्कार क्यो नही किया जाता ? जैन सिद्धान्त सब बातो पर ध्यान देता है। आप जानते हैं कि पक्षी दो पखो से उडता है। द्रव्य-तीर्थंकर मे चरित्र रूपी पख नही होता, अतएव चारित्र-धारी उसे नमस्कार नही करते। हाँ, सम्यग्दृष्टि उसे नमस्कार कर सकता है। सब देवी देवता और इन्द्र द्रव्यतीर्थंकर को नमस्कार करते है।

द्रव्यतीर्थंकर चतुर्थ गुणस्थान मे होते है और श्रावक पाँचवे गुणस्थान मे। तीर्थंकर अपने भव मे पाँचवे गुणस्थान मे प्रवेश नही करते। वे चौथे गुणस्थान मे सीधे ही सातवे गुण स्थान का स्पर्श कर छठे गुणस्थान मे स्थित होते है। पाँचवाँ गुणस्थान तो उन असमर्थ जीवो के लिए है जो षष्ठ गुणस्थान को प्राप्त नही कर सकते। तीर्थंकर पूरा व्यापार करने वाले है, अधूरा व्यापार नहीं करते।

ऊपर के गुणस्थान वाला नीचे गुणस्थान वाले को नमस्कार नही करता। या तो ऊपर के गुणस्थान वाले को नमस्कार किया जाता है या समान गुणस्थान वाले को। साधु-साध्वी मे सर्वविरति-चारित्र होता है और श्रावक-श्राविका मे देशविरतिचारित्र। मगर द्रव्यतीर्थंकर मे गृहस्थावस्था मे दोनो मे से कोई भी चारित्र नही है। इसी कारण वह पचम-षष्ठ गुणस्थान वालो के लिए नमस्करणीय नही है। किसी भी शास्त्र मे नमस्कार करने का विधान नही है।

अब देखना चाहिए कि जब द्रव्यतीर्थंकर को भी नमस्कार नही किया जाता तो स्थापनातीर्थंकर को, अर्थात् तीर्थंकर के चित्र या प्रतिबिम्ब को किस प्रकार नमस्कार किया जा सकता है ?

पचम गुणस्थान वाले श्रावक साधु-साध्वी को नमस्कार करते हैं परन्तु छठे गुणस्थान वाले साधु, श्रावक को नमस्कार नही करते, क्योंकि श्रावक की अपेक्षा साधु का दर्जा ऊँचा है। हाँ, साधु साधु को वन्दन कर सकता है और श्रावक श्रावक को वन्दन कर सकता है।

पाँचवे और छठे गुणस्थान का आधार सम्यक्त्व है। अगर सम्यक्त्व है तो ये गुणस्थान प्राप्त हो सकते है। सम्यक्त्व नही है

तो चाहे अणुव्रत धारण करने की प्रतिज्ञा ली जाय, चाहे महाव्रतो को ग्रहण करने की घोषणा की जाय, वास्तव मे कोई भी व्रत प्राप्त नही होता। सम्यक्त्व के अभाव मे सब दभ है, वचना है, दिखावा है। चारित्र अगीकार करने के लिए मिथ्यात्व का त्याग सम्यक्त्व की विशुद्धि आवश्यक है।

मगर मिथ्यात्व का छूटना ही कठिन है। मिथ्यात्व इतना भयकर ठग है कि वह अपने अस्तित्व का भी भान नही होने देता। क्रोधी, मानी, मायावी, और लोभी समझता है कि मुझ मे क्रोध, मान, माया और लोभ रूप दोष है, पर मिथ्यात्वी यह भी नही समझता कि मुझ मे मिथ्यात्व का महान् विष भरा हुआ है। इस कारण इसका छूटना भी बहुत कठिन होता है।

मिथ्यात्वी अपने आपको मिथ्यात्वी नही मानता। यही नही, बहुत बार वह सम्यग्दृष्टि को मिथ्यादृष्टि और अपने को सम्यग्दृष्टि मानता है।

जो रोगी अपने रोग को जानता और मानता है, उसकी चिकित्सा होना सम्भव है। मगर जो रोगी यही नही जानता कि मुझे रोग है या नही, उसकी चिकित्सा होना अत्यन्त कठिन है।

मिथ्यात्व ऐसा ही रोग है, जिसका रोगी को पता नही चलता। यह महारोग अपने अस्तित्व का पता नहीं चलने देता। वह जिसे होता है, सर्वप्रथम उसकी सद्बुद्धि हर लेता है। इसके प्रभाव मे रोगी अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है। वह अपने को तथा जगत् के अन्य पदार्थो को अयथार्थ रूप मे ही देखता है। ऐसी स्थिति मे उसका इलाज कोई प्रभावशाली और अत्यन्त दयालु डाक्टर ही कर सकता है।

मिथ्यात्व का ही यह प्रभाव है कि अनेक नर-नारी शीतला, भवानी और भैरोजी आदि को पूजते है। धर्मशास्त्र सुनते-सुनते बाल पक गये, परन्तु मिथ्यात्व नही छूटा।

सज्जनो! सामायिक और पौषध न बने तो उतना हर्ज नही, पर मिथ्यात्व से अत्यन्त हानि होती है। उसे सर्वप्रथम त्यागना चाहिए। मिथ्यात्व को त्यागे बिना मोक्षमार्ग पर प्रथम कदम भी नही रक्खा जा सकता। एक आचार्य कहते हैं :—

जहा सुई समुत्ता, पडिया वि न विणस्सइ।
तहा जीवो ससुत्तो, ससारे न विणस्सइ॥

सुई मे डोरा पिरोया हुआ हो और वह गुम हो जाय तो ढूंढने पर जल्दी मिल जाती है। चण्डो, मुण्डी आदि मे आज तुम्हारी आत्मा गुमी हुई है, पर निराश होने की बात नही है। पृथ्वी पानी और वनस्पतिकाय मे भी एक भव करके मोक्ष जाने वाले विद्यमान है। इस पतनावस्था मे भी परीतससारित्व का डोरा उनके साथ पिरोया हुआ है। मिथ्यात्व का उदय आने पर सम्यक्त्व से जीव पतित हो जाते है। इस प्रकार सम्यक्त्व से पतित हुए जीव अनन्त हैं। मगर जिन्होने एक बार भी सम्यक्त्व पा लिया है, वे सदा काल ससार मे रुलने वाले नही। वे परीतससारी जीव एक नियत समय (आधे पुद्गलपरावर्त्तन) मे अवश्य मुक्ति प्राप्त करते है। जैसे सूर्य को आच्छादित करने वाले मेघो के हटते ही सूर्य स्वाभाविक प्रकाश बिखेरने लगता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व रूपी मेघपटल के हटते ही आत्मा का सम्यक्त्व चमक उठता है।

चढना मुश्किल होता है गिरना सरल है। वाटरवर्क्स मे पानी चढाना ही कठिन है, नीचे पहुँचाने मे कोई कठिनाई नही होती।

इसी कारण मै बार-बार प्रेरणा किया करता हूँ कि मिथ्यात्व का त्याग करो। साधुओ का सयोग सदैव नही रहेगा, उनके उपदेश को ध्यान मे रक्खो। उसी से कल्याण का मार्ग मिलेगा। अगर उपदेश पर ध्यान देंगे तो मिथ्यात्व से बच सकेगे। इसके समान अन्य कोई अहितकर नही है। यह जीव का भयकर वैरी है। कहा है —

मिथ्यात्व परमो रोगो, मिथ्यात्व परम तम ।
मिथ्यात्व परम शत्रुर्मिथ्यात्व परम विपम् ॥

मिथ्यात्व परम रोग है। यह एक असाधारण रोग है। शारीरिक रोग तो एक ही जन्म मे दु ख देता है, परन्तु मिथ्यात्व रोग सहस्रो जन्मो तक भी जीव को सताता ही रहता है।

मिथ्यात्व के समान कोई अन्धकार नही है। द्रव्य-अन्धकार चर्मचक्षु का ही प्रतिबन्धक होता है, परन्तु मिथ्यात्व-अन्धकार अन्तर्दृष्टि को भी बेकार बना देता है।

मिथ्यात्व के समान न कोई शत्रु है और न कोई विष है। पर असल देखा जाय तो मिथ्यात्व ही कर्मबन्ध का मूल कारण है। मैं ही यह नही कहता, दूसरे महापुरुषो ने भी ऐसा ही कहा है —

पटोत्पत्तिमूल यथा तन्तुवृन्द,
घटोत्पत्तिमूल यथा मृत्समूह ।
तृणोत्पत्तिमूल यथा तस्य बीज,
तथा कर्ममूल च मिथ्यात्वमुक्तम् ॥

जैसे सूत के ततुओ से कपडा बनता है, मिट्टी से घडा बनता है और अपने बीज से घास की उत्पत्ति होती है। उसी प्रकार

मिथ्यात्व से कर्मो की उत्पत्ति होती है। कर्मबंध का मूल कारण यह मिथ्यात्व ही है।

जब तक मिथ्यात्व का अन्त नही आता और एक बार भी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नही हो जाती, तबतक जीव के भवभ्रमण की कोई सीमा निर्धारित नही होती।

सज्जनो! आपको बडा उत्तम अवसर मिला है। ऐसा अवसर अनन्त-अनन्त जीवो को अनादिकाल से अबतक एक बार भी नही मिला है। आप अत्यन्त पुण्यशाली है कि इस अवसर को प्राप्त कर सके है। आपको आर्यक्षेत्र, मनुष्यभव, उत्तमकुल, सद्धर्म आदि ऐसे प्रशस्त निमित्त मिल गये हैं कि थोडा-सा जोर लगाते ही बेडा पार हो सकता है।

आपको वीतराग देव की प्राप्ति हुई है, यह क्या कुछ साधारण बात है? किन्ही के देव शस्त्र धारण करते है, किन्ही के स्त्री रखते है तो किन्ही के न जाने कैसी-कैसी सवारियो पर चढे होते है। यह अनुमान करना कठिन नही कि त्रिशूल, गदा, मुद्गर, चक्र आदि शस्त्र वही धारण करता है जिसका कोई शत्रु हो और जिसे उसका निग्रह करना हो। शस्त्र धारण करना द्वेष भाव की विद्यमानता का सूचक है और जहाँ द्वेष है वहाँ राग अवश्यम्भावी है।

जिसके हृदय रूपी निर्झर से करुणा का अजस्र शीतल स्रोत प्रवाहित होता है, जो पूर्ण समभाव मे स्थित है और जिसके लिए जगत् के समस्त प्राणी आत्मवत् है, वह शस्त्र किसके लिए, किस उद्देश्य से धारण करेगा? जब आत्मसाधना के पथ पर चलने वाले सच्चे साधु भी शस्त्र धारण नही करते तो देव कैसे शस्त्र धारण कर सकता है?

जो स्वय चलने मे असमर्थ है, वह सवारी करता है। सामर्थ्यवान् सवारी का उपयोग तभी करता है जव उसे अपना गौरव दूसरो पर प्रकट करना हो, अर्थात् उसमे अहकार का विकार हो। जिस देव मे असामर्थ्य नही और अभिमान नही, उसे सवारी की आवश्यकता भी नही।

कई लोग अपने देव के पार्श्व मे महिला होने के सम्वन्ध मे वचाव करने के लिए कहते है कि ससार को मर्यादा सिखाने के लिए उन्होने ऐसा किया है, परन्तु दुनिया को यह सिखाने के लिए पाठशाला खोलने की आवश्यकता नही है। विषय विकार तो जन्मजात है। मोहनीय कर्म के उदय से वे स्वत उत्पन्न हो जाते है। ऐसी स्थिति मे जो परमाराध्य है, आत्मा के कल्याण के लिए जिन्हे आदर्श वनाया जाता है और विषय-विकारो से पिण्ड छुडाने के लिए जिनकी उपसना की जाती है, वे देव ही अगर विकारपोषण की शिक्षा दे तव तो हो चुका कल्याण इस दुनिया का !

अनादिकाल से जीव काम, क्रोध आदि विकारो से ग्रस्त है। समय-समय पर जो अध्यात्मनिष्ठ महापुरुष हुए है, उन्होने विषयो की हलाहल विष कह कर भर्त्सना की है और जगत् के जीवो को उनसे उपरत होने की प्रेरणा दी है। फिर भी दुनिया के लोग प्राय उनके चगुल मे फँसे हुए हैं और दुखी हो रहे है। अगर देव भी विषयविकार-सेवन की शिक्षा देने लगे तो यह तो आग मे घी होमने की वात होगी।

अग्नि के पास वही जाता है जो शीत से पीडित हो। भूखा ही भोजन का सेवन करता है। इसी प्रकार जिसे भोग की इच्छा होती है, वही स्त्री को अकशायिनी बनाता है। किसी ने कहा है—

जगी भगी विषय मे रगी, निशदिन जिनकी आत्मा,
भला बताओ हो सकते है कैसे वो परमात्मा ।
ऐसे कामी देव को ना शीश झुकाऊँ मैं,
चादी सोना कासी पीतल लेकर देव बनावे हैं
पाषाणाकृति सन्मुख रख कर पुष्प फलादि चढावे है ।
ऐसे कल्पित देव को न देव मनाऊँ मैं ।
तेरे दर को छोड के किस दर जाऊँ मै,
सुनता मेरी कौन है, किसे सुनाऊँ मैं ॥

भक्त भगवान् से कहता है कि कुदेवो को भजते-भजते कितना काल वीत गया ! पर जो स्वय भूखा है और दरिद्र है वह दूसरो को क्या देगा ? जो लाखो को मार डाले वह कैसा ब्रह्मज्ञानी ! जो भग पीता है वह कैसा देव है !

एक गधा चरता-चरता भाग के खेत मे पहुँच गया। चातुर्मास के मौसम मे भाग का खेत हरे वस्त्रो से सुशोभित कुलवधू की शोभा दिखलाता है। वह गधा भाग को छोड कर दूसरा-दूसरा घास चरने लगा। यह देख कर भाग ने गधे से कहा—तू मुझे छोड कर अन्य घास क्यो खाता है ?

गधा—माता, मैं तेरा उपकार मानता हू, परन्तु तुझे खाने के लिए मैं तैयार नही हूँ ।

भाग—इसीलिए तो तू गधा है ! तुझे भले-बुरे का ज्ञान नहीं है। तुझे, नही मालूम कि शिवजी भी मुझे सेवन करते है।

गधा—जो तुम्हारा सेवन करते है, वे भगेडी मनुष्य भी गधे वन जाते है। मैं पहले ही गधा हूँ, अगर तुझे खा लू तो मेरी क्या हालत होगी ?

इन्द्रियों का पोषण करने वाले ही नशा करते हैं। साधारण नशा तो कुछ समय मे उतर जाता है किन्तु मिथ्यात्व रूपी नशा सहज मे नही उतरता।

तो अभिप्राय यह है कि आपको ऐसे देव के प्रति आस्था प्राप्त हुई है जो परम वीतराग है, सर्वथा निर्विकार है, कृतकृत्य है अनन्त ज्योति के पुज हैं, जो आध्यात्मिक विकास के चरम विन्दु पर पहुँचे हैं। ऐसे अद्वितीय परमात्मा के उपासक होकर भी अगर आपने आत्मकल्याण के लिए यत्न न किया तो फिर कब करोगे ? कौन जानता है कि भविष्य मे ऐसा अवसर कब मिलेगा ? अतएव जो स्वर्णावसर प्राप्त हुआ है, उसका सदुपयोग करो।

धर्म भी आपको असाधरण मिला है। धर्म की कसौटी अहिंसा है, दया है। जहाँ अहिंसा है, वहाँ धर्म है और जहाँ हिंसा है, वहाँ अधर्म है। वीतराग देव के द्वारा प्ररूपित धर्म आत्मा के समस्त रोगो का विनाश करने वाले लोकोत्तर रसायन के समान है। यही आत्मा के लिए कल्याणकारी है और इसके विना आत्मा का कल्याण नही हो सकता। अपना अहोभाग्य समझो कि आपको इस लोकोत्तर धर्म को श्रवण करने का अवसर मिला है। अनन्तानन्त प्राणियो से भरे इस जगत् मे किसे ऐसा पुण्यावसर मिलता है ?

इस प्रकार की सामग्री मिलने पर मनुष्य चाहे तो थोडा-सा पुरुषार्थ करके ही आत्मा का शाश्वत कल्याण कर सकता है। इस अवसर के मूल्य को जो समझता है वही बुद्धिमान् है, वही ज्ञानी है और वही विवेकशील है।

जो अरिहन्त भगवान् के गुण गाते है और उन गुणो के प्रति

श्रद्धावान् होकर उन्हे प्राप्त करने के लिए उद्यम करते है, उनका वेडा पार हो जाता है । अतएव अरिहन्त भगवान् की भक्ति मे अपने चित्त को रमाओ। मगर यह सव तभी वनेगा जव जीवन मे से मिथ्यात्व दूर हो जाएगा। इस समय तो नाना रूपो मे मिथ्यात्व ने अपनी जड जमा रक्खी है। कई लोग मृत साधु-साध्वी को नमस्कार करते हैं। यह भी मिथ्यात्व है। जव शरीर मे से आत्मा निकल गया तो शेप क्या रह गया ? वह निष्प्राण कलेवर महाराज नही, मिट्टी का ढेर है। हाड-मास का पीजरा है । उसे नमस्कार कैसा ? मगर प्राय सव नमस्कार करते है। एक गाडर भेड भ्या करती है तो सव उसकी देखा देखी भ्या-भ्या करती है।

एक वाई रोटी वनाने के लिए आटा ओसणती, जव रोटी वनाने लगती तो थोडा-सा तोडकर आटे के पिड मे मिला दिया करती थी। हर वार वह ऐसा ही करती थी। उससे पूछा गया कि ऐसा क्यों करती हो ? तो वह वोली—मेरी सासू जी ऐसा करती थी, इसलिए मैं भी करती हूँ ।

तो यह लोक गतानुगतिक है। दुनिया दिमाग से काम नही लेती और अन्धी होकर अनुकरण करती है। आटा थोडी देर गूदा हुआ पडा रहे तो उसमे पौष्टिकता और लेस आ जाती है। इसलिए तोडकर देखा जाता है कि रोटी वनाने योग्य हो गया है या नही ? यह था आटा तोडकर उसी आटे मे लगाने का मतलव, किन्तु आज तो यह एक रसम हो गई है। इसका सही अर्थ कोई ही समझता होगा ।

आज लोगो का भोजन की शुद्धि की ओर ध्यान नही है । जैसा मिलता है, वैसा ही पेट मे डाल लेते है। पर कहावत है— 'जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन ।' भोजन का वुद्धि पर प्रभाव पडे

विना नही रहता। भ्रष्ट भोजन करने के कारण लोगो की बुद्धि भी भ्रष्ट हो रही है। होटलो के कारण भोजनशुद्धि का विचार ही नही रह गया है। होटल वालो का एक मात्र लक्ष्य पैसा दनाना होता है। उन्हे खाने वालो के स्वास्थ्य की कोई चिन्ता नही है। वहुत-से होटलो मे तो मास अडे आदि भी काम मे लाये जाते है। सौराष्ट्र के सस्कार तो फिर भी ठीक है, वहाँ प्राय मास, अडा, मछली आदि वाजार मे देखने मे नही आते। कही-कही तो शुद्ध आहार मिलना भी कठिन हो जाता है। परन्तु ध्यान रखना चाहिए कि भोजन का विचारो के साथ घनिष्ठ सम्वन्ध है। सात्विक और शुद्ध भोजन से विचारो मे सात्विकता आती है और सात्विक विचार होने पर ही आत्मा-परमात्मा सम्वन्धी विचारो का उद्भव हो सकता है।

सज्जनो! आत्मा का विषय अत्यन्त गभीर और सूक्ष्म है। आत्मा को समझने के लिए वहुत साधना को आवश्यकता है। आत्मा यदि रूपी वस्तु होती तो उसे आँखो से देख लेते, मगर उस मे रूप नहीं है, उसमे रस, गध और स्पर्श भी नही है, अतएव वह किसी भी इन्द्रिय से गम्य नही है। उसे समझने के लिए अर्न्तदृष्टि जागरित होनी चाहिए।

आचारागसूत्र मे आत्मा के विपय मे कहा है—'सरा तत्थ निवत्तते।' अर्थात् आत्मा वह सूक्ष्म तत्त्व है जहाँ स्वर-वचन निवृत्त हो जाते है। आत्मा की उस वारीक दुनिया मे शव्द का प्रवेश नही हो सकता। आत्मा को समझने के लिए स्वर उपयोगी नही होते। वाणी द्वारा उसकी अभिव्यक्ति नही हो सकती।

केवल शब्द ही नहीं, तर्क के तीर भी उस तक नहीं पहुँच सकते। तर्क-वितर्क करने से आत्मा को पहचानना शक्य नहीं है। तर्क-वितर्क से मनोविनोद भले हो जाय, पर आत्मा नहीं समझी जा सकती। कोई भी भौतिक साधन अभौतिक आत्मा की पहचान नहीं करा सकता। आत्मा अतर्क्य है, अवक्तव्य है अदृश्य है। आत्मा आत्मा के द्वारा ही समझी जा सकती है। अन्य कोई साधन वहाँ काम नहीं आ सकता।

आत्मा को समझाने के लिए जो भी उदाहरण दिये जाते है, सब एकदेशीय है। विश्व मे दूसरी कोई वस्तु नही है जो आत्मा की समानता कर सके, जिसके गुण आत्मा के गुणो के सदृश हो। आत्मा मे अनन्त असाधारण निधियाँ है। ये निधियाँ किसी धर्मस्थानक में, मन्दिर मे या मस्जिद मे नही है, आत्मा के ही साथ है और आत्मा मे ही है। हीरा की ज्योति हीरा मे ही है।

एक साहूकार के पास अरबो का धन था। आप जानते ही हैं कि लाखो, करोड़ो या अरबो का धन सारा का सारा उपभोग मे नही आता। मनुष्य केवल तृष्णा और लोभ के कारण ही उसे सभाले बैठा रहता है और बढाने के लिए प्रयत्नशील रहता है। करोड़पति या अरबपति होने के कारण वह हीरा-मोती नहीं खाता। साधारण अन्न और वस्त्र पर ही उसे जीवन व्यतीत करना होता है। सारे धन को वह काम मे नही ला सकता। हाँ, उससे मनुष्य के अहकार को अवश्य खुराक मिलती है। उस धन के कारण वह अपने को दूसरो से बडा समझ कर अभिमान करता है।

मगर उसका अभिमान क्या अक्षुण्ण रहता है? जब वह अपने से भी अधिक धनवानो को सामने देखता है या उनके सम्बन्ध मे विचार करता है तो उसका अभिमान चूर-चूर हो जाता है। इसके

अतिरिक्त उसका अभिमान उसी के लिए वड़ा महँगा पड़ता है। अभिमान पोपण के लिए उसे अत्यधिक मूल्य चुकाना पडता है। धनवान् को धन की सुरक्षा के लिए कितना चिन्तित रहना पडता है, यह वात धनी से लोग समझ सकते है। वह रात-दिन चिन्ता मे डूवा रहता है। क्षण भर के लिए कभी शान्ति नही, निराकुलता नही।

> वित्तवान् को हि लोकेऽस्मिन्निश्चिन्त कुत्रचित् वसेत्।
> अपि स्वप्नेऽपि तस्यास्ति, भय राजादिज महत्॥

अर्थात्—धनवान् पुरुप इस लोक मे कही भी निश्चिन्त होकर नही रह सकता। रात मे सोता है तो स्वप्न मे भी उसे राजा आदि का भय ही सताता रहता है। क्योकि—

> राजत सलिलादग्नेश्चौरत स्वजनादपि।
> भयमर्थवता नित्य, मृत्यो प्राणभृतामिव॥

यह धन मौत के समान भयकर है। जैसे मनुष्य के मन पर मौत का भय छाया रहता है कि न जाने किस दिन और किस क्षण आकर वह इस जीवन को समाप्त कर देगी, उसी प्रकार धन का भी भय वना रहता है। पुराने जमाने मे राजा लोग धनियो के धन का अपहरण कर लिया करते थे। आज राजा लोग नही रहे है जनतन्त्र राज्य है, पर राजकीय कानून आज ऐसे वन रहे है कि धनवान् अव अधिक धनवान् नही वन सकेंगे। देश मे समाजवाद के सिद्धान्त को अपनाया जा रहा है। धनी और निर्धनो के बीच की विषमता को मिटाने का प्रयत्न हो रहा है। वहुत से महत्त्वपूर्ण व्यापार अव सरकार अपने हाथ मे ले रही है और जिन्हे नही ले रही है उन पर भी तरह-तरह के अंकुश लगा रही है। अतएव राजशासन धनियो

के भय का कारण बना ही रहता है। वे सोचते है—आज तो यह सरकार है जो धनवानो के प्रति क्रूर व्यवहार न करती हुई आर्थिक समानता की ओर बढ रही है, किन्तु किसी समय अगर कम्युनिस्ट पार्टी के हाथ मे सत्ता आ गई तो हमारी क्या गति होगी ? कम्युनिस्ट लोग दया करना नही जानते। उन्हे खूनखराबी से भी परहेज़ नही है। वे गोली मार कर भी धनवानो के धन का अपहरण कर सकते है इत्यादि रूप मे राज्य से उन्हे भय बना रहता है।

कभी-कभी बाढ आ जाती है और उसके कारण लखपति कगाल हो जाता है। हवेली या कारखाने मे आग लग जाती है और लाखो की सम्पत्ति देखते-देखते भस्म हो जाती है। धनवान् को इस प्रकार पानी और आग का भी सदा भय बना रहता है।

जहाँ पानी की बाढ आने का खतरा न हो, आसपास मे कोई नदी न हो और आग की भी चिन्ता न हो, वहाँ भी धनवान् निश्चिन्त नही हो सकता। आखिर चोर तो सभी जगह हो सकते है। उनकी पहुँच कहाँ नही है ? वे सख्त से सख्त पहरे मे भी रास्ता बना लेते है। उनके द्वारा होने वाले भय मे छुटकारा कैसे पाया जा सकता है ?

चोरो के भय के साथ स्वजनो के भय से भी कैसे बचा जा सकता है ? भाई, भतीजा आदि कब असन्तुष्ट हो जाएँ कब उनके मन मे लोभ या पाप की प्रकृष्टता उत्पन्न हो जाय, कौन जानता है ? वे अपना हिस्सा माँग ले या सारा धन हडप लेने की नीयत से प्राण ही ले बैठे, क्या ठिकाना है !

हाँ, तो वह अरबपति साहूकार इसी प्रकार के भयो से ग्रस्त और त्रस्त रहता था। उसने अपने धन की रक्षा का एक उपाय सोचा। एक बावडी खुदवाई और उसमे धन गाड दिया। ऊपर से

आठ शिलाएँ डाल दी। आसपास के झरनो से बावडी मे पानी भर गया।

इतनी व्यवस्था करके साहूकार ने समझ लिया कि मेरा धन सुरक्षित हो गया।

मारवाड के एक गाँव की बात है। वहाँ एक धनी भयकर गर्मी के दिनो मे भी घर के भीतर ही सोता था। वस्त्र उसके अत्यन्त मलीन। देख कर कोई नही समझ सकता था कि इसके पास पैसे की प्रचुरता है।

लक्ष्मी दो रूपो मे प्राप्त होती है, पुत्री के रूप मे और पत्नी के रूप मे। पुत्री के नाते प्राप्त लक्ष्मी वह है जो उपभोग मे नही आ सकती और रखवाली करके दूसरो को सौंप दी जाती है। ऐसे लोगो ने लाभान्तराय को तोडा है, पर भोगान्तराय कर्म को नही तोडा है। कई सेठ ऐसे भी मिलेगे जो स्वय शाक खरीदने जाते है और बचा खुचा, सडा-गला खरीद कर लाते है। रूखी रोटियाँ खाते है। ऐसे लोगो को भोगान्तराय कर्म का प्रबल उदय है।

जो लक्ष्मी पत्नी के नाते मिलती है, उसका उपभोग किया जाता है और यदि विवेक बुद्धि हो तो सदुपयोग किया जाता है।

माया की तीन गतियाँ है—दान भोग और नाश। प्राप्त सम्पत्ति से गरीबो को राहत पहुँचाना उत्तम मार्ग है। सुपात्र को दान देने से बढकर सम्पत्ति का अन्य कोई उपयोग नही हो सकता। परन्तु जो कजूसी के कारण दान भी नही दे सकते, वे और उपभोग नही कर सकते बेचारे यो ही रह जाते है। सम्पत्ति अपना तीसरा रास्ता पकडती है—नष्ट हो जाती है।

गृहस्थो को तीन शक्तियाँ प्राप्त है—तन, मन और धन। ये

शक्तियाँ विवेकी पुरुष की सत्कार्य मे लगती हैं और अविवेकी की असत्कार्य मे। धर्मी पुरुष इन्ही से धर्म करके आत्मा का हित कर लेता है और अधर्मी पुरुष पापोपार्जन करके अपने भविष्य का मलीन और दुःखमय बना लेता है। वह अज्ञानी नही जानता कि कितने पुण्य के उदय से उसे ये शक्तियाँ प्राप्त हुई है। मूढ पुरुष चिन्तामणि रत्न को कौवा उडाने के लिए फेक देता है, इसी प्रकार अज्ञानी अपनी शक्तियो को पापोपार्जन मे व्यय कर देता है।

साधुओ के पास तो केवल दो ही शक्तियाँ हैं—तन और मन। गृहस्थो के पास तीन शक्तियाँ है तन, मन और धन। जिसके पास जो शक्ति है, उसे उसका सदुपयोग ही करना चाहिए। शक्ति का महत्त्व उसकी प्राप्ति मे उतना नही, जितना उसके सही उपयोग मे है। अगर कोई उत्तम से उत्तम प्राप्त हुई शक्ति का दुरुपयोग करे तो उसकी प्राप्ति का महत्त्व ही क्या रहा ? वही शक्ति सार्थक है जो आत्मकल्याण के साथ-साथ समाज और सघ के अभ्युदय मे काम आती है।

साधुओ को अपनी मर्यादा मे रहना पड़ता है। उसके वचन बोलने की भी मर्यादा है और कार्य करने की भी मर्यादा है। साधु मर्यादा के भीतर रह कर कई बातो का उपदेश तो कर सकता है, किन्तु आज्ञा नही दे सकता। पुण्य आदि कार्यो का उपदेश दे सकता है किन्तु उन्हे करने की आज्ञा नही दे सकता। सामयिक और पौषध आदि धर्म कार्यो का उपदेश और आदेश भी कर सकता है। जहाँ साधु सिर्फ उपदेश ही कर सकता है, बुद्धिमान् श्रावक उसे इशारे से ही समझ लेते हैं। बाप बेटे को सामान जुटा देता है, आगे गृहस्थी चलाना बेटे का काम है।

'न धर्मो धार्मिकैर्विना' अर्थात् धर्मात्माओ के विना धर्म नही चलता। वह अपने आप मे पगु है। चारो तीर्थ अपने-अपने उत्तर-दायित्व को समझे और निभावे तो धर्म की उन्नति हो। मगर आज धर्मशासन की चिन्ता किसको कितनी है, यह कहने की आवश्यकता नही। आज धर्म की उपेक्षा हो रही है, इसी कारण अधोगति दिखाई देती है।

अगर आप धर्म के उत्थान के लिए अधिक कुछ नही कर सकते तो कम से कम इतना तो अवश्य करो कि अपना जीवनव्यवहार गृहस्थधर्म के विपरीत न करो। जनसाधारण किसी धर्म के सिद्धान्तो की गहराई मे प्रवेश नही करता। न उसमे इतनी योग्यता होती है और न इतना अवकाश। वह धर्म के अनुयायियो के आचरण को देखकर ही उनके धर्म की अच्छाई या बुराई का निर्णय कर लेता है। अतएव अगर आपके जीवन मे नैतिकता, प्रामाणिकता, सरलता, सहृदयता और उदारता होगी, आप व्यापार आदि व्यावहारिक कार्यो मे भी कभी अप्रामाणिकता न दिखलाएँगे तो लोगो की आपके धर्म के प्रति आस्था बढेगी। जब लोग देखते है कि जैन धर्मानुयायी के जीवन मे जैनेतर के जीवन से कोई विशेषता नही है तो वे यह भी समझ बैठते है कि जैसे दुनिया के अन्यान्य धर्म है वैसे ही एक जैन-धर्म भी है। उनके हृदय मे इस उत्तम धर्म के प्रति भी विशिष्ट श्रद्धा उत्पन्न नही होती और साधुओ का उपदेश भी उनके दिल पर प्रभाव नही डाल पाता। साधुओ का जो उपदेश हो उसी के अनुकूल आपका जीवन होना चाहिए। तब धर्म का उत्थान हो सकता है।

याद रक्खो, जबतक आपका प्रत्येक व्यवहार धर्मानुमोदित नही बन जाता, तबतक आत्मोपलब्धि नही हो सकती। धर्म की भावना के विना आत्मा नही मिल सकती।

हाँ, तो वावडी मे धन दवा देने वाले सेठ जी एक दिन चल वसे। जीवन का सव से वडा सत्य मृत्यु है। मृत्यु के वाद जीवन हो या न हो, सम्भव है कोई सदा के लिए मुक्ति प्राप्त कर ले, मगर जीवन के पश्चात् मृत्यु तो अनिवार्य ही है।

मौत किसी को नही छोडती। वह कुछ क्षणो की छुट्टी भी नही देती। कोई चाहे कि पांच मिनट अधिक जीवित रहने का समय मिल जाय, सो भी सम्भव नही है। आयु कर्म की समाप्ति होने पर अवश्य मरना पडता है।

सेठ जी चल वसे और थोडे दिनों वाद उनके लड़को को भूखों मरने का अवसर आ गया। कोई उधार भी नही देता।

अच्छा हुआ कि सेठजी वही-खाता अपने साथ नही ले जा सके और न वावडी मे दवा गये धन को ले जा सके। उनके लड़को ने एक दिन वैठे-वैठे वही के पन्ने पलटने शुरु किये। सोचा - किसी मे कुछ लेना शेष हो तो काम आवे। देखते-देखते एक जगह लिखा मिल गया कि वावडी मे करोडो का धन दवा हुआ है।

यह पढ कर लडको की प्रसन्नता का पार न रहा। उन्होने वावडी का पानी निकलवाना शुरू किया, पर वड़ी कठिनाई पेश आई। दिन को पानी खाली करवाते और रात मे फिर ज्यो का त्यो भर जाता। यह देख कर उन लडको को वहुत निराशा हुई।

इसी अवसर पर कोई महापुरुप आ गया। सेठ के लडको ने उसके सामने अपनी कठिनाई उपस्थित की तो उसने वतलाया— सव से पहले किसी डुवकी लगाने वाले को वुलाओ। वह देखे कि वावडी मे पानी आने के कितने स्रोत है? उन स्रोतो को पहले वन्द करा दो। उन्हे माप कर डाट लगा दो। उसके वाद पानी निकलवाना।

लड़को ने ऐसा ही किया। जल के स्रोतो को वन्द किया और भरा हुआ पानी वाहर निकलवाया। इस उपाय से वावडी पानी से खाली हो गई। मगर जवर्दस्त आठ शिलाओ का टूटना साधारण वात नही थी। वहुत परिश्रम करने पर वे शिलाएँ टूटी। तव कही वह करोडो की सम्पत्ति उन्हे मिली। उसे पाकर वे मालामाल हो गये। उनकी दीनता मिट गई, दुःख दूर हो गये।

यह एक व्यावहारिक दृष्टान्त है। इसे आत्मा के सवध मे घटित करना चाहिए। यह आत्मा वह वावडी है, जिसमे असीम ज्ञान-दर्शन आदि की सम्पत्ति भरी पडी है। मगर उस सम्पत्ति को प्राप्त करने के लिए अनेक विघ्नो पर विजय प्राप्त करनी है। आठ कर्म-रूपी शिलाएँ आडो पडी है और निरन्तर आश्रव रूपी द्वारो से आत्म रूपी वावडी मे नवीन-नवीन कर्म रूपी जल भरता जा रहा है। इसी कारण पूर्व सचित कर्म-जल की निर्जरा होने पर भी उनका अन्त नही आ रहा है। जवतक नवीन आश्रव अवरुद्ध न कर दिया जाय तवतक समस्त कर्मो का अन्त आना असभव है। आश्रवद्वार रूपी झरने अप्रतिरुद्ध गति से आत्मा रूपी वावडी मे नया-नया जल उडेल रहे है। मिथ्यात्व, अविरति (हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह से विरत न होना), प्रमाद, कषाय और योग, यही वे झरने हैं जिनसे नया-नया जल निरन्तर भरता रहता है। आत्मिक सम्पत्ति प्राप्त करने के लिए इन आश्रवो को सर्वप्रथम रोकने की आवश्यकता है। जव आश्रवो का निरोध हो जाता है अर्थात् सवर के द्वारा नवीन कर्मो का आना रुक जाता है और तपस्या आदि के द्वार पूर्वसचित कर्मो को क्षीण कर दिया जाता है, तव कर्म चट्टानो को तोडने का अवसर मिलता है। उन चट्टानो के टूटते ही असीम

आध्यात्मिक सम्पत्ति प्राप्त हो जाती है। समस्त दैन्य और दुख का अन्त हो जाता है और आत्मा परमैश्वर्य का भागी बनता है।

अभिप्राय यह है कि आत्मा की निधि कही अन्यत्र नही है। वह आत्मा मे ही छिपी है और वही मिल सकती है, सिर्फ समुचित उपाय करने की आवश्यकता है।

भाव अरिहन्त—वह विशुद्ध आत्मा है जिसे आत्मिक सम्पत्ति प्राप्त हो गई है, जिसने चार घातिक कर्मो का अन्त कर दिया है। उनकी उपासना करो, उन्ही की स्तुति करो और उन्ही की आराधना करो। भाव-अरिहन्त ही आपके काम आएँगे और उन्हे भी कही दूसरी जगह खोजने की जरूरत नही है। अन्तर्दृष्टि बनने पर आपके भीतर ही भाव-अरिहन्त की जाज्वल्यमान ज्योति चमक उठेगी।

जो भव्यजीव भाव-अरिहन्त की स्तुति करते है वे अक्षय सुख के भागी बनते हैं।

राजकोट
१२—८—५४

दयालु देव

अगर वीर स्वामी हमे ना जगाता,
तो दुनिया मे कैसे नया रग आता ?
न होता उदय वह ज्ञान का सूरज,
तो कैसे अविद्या-अधेरा नशाता ?
न बचता पशु एक भी बलि यज्ञ से,
अहिंसा का सिहनाद जो न सुनाता ॥

उपस्थित भव्य आत्माओ !

चरमतीर्थंकर विश्वहितकर शासनप्रवर्त्तक भगवान् महावीर स्वामी ने जगत् का जो उपकार किया है, वह अनिर्वचनीय है। उसका शब्दो द्वारा वर्णन करना किसी के लिए भी सभव नही है। भगवान् महावीर ने करीब साढे बारह वर्ष तक अत्यन्त कठिन तपश्चर्या की, इतनी कठिन कि उसके वर्णन मात्र से शरीर के रोगटे खडे हो जाते है। प्रभु ने नाना प्रकार के भयकर, मानुष और तिर्यञ्चयोनिक उपसर्ग सहन किए। वे ससार के असाधारण तपस्वी थे। राजकुमार होकर और राजमहल मे अपना बाल्यकाल बिता कर भी उन्होने जगत् के उद्धार और आत्मोत्थान के लिए भिक्षुक जीवन अगीकार किया। तपस्या की भट्ठी मे शरीर को झोक दिया।

सर्वोत्कृष्ट तपस्या के परिणामस्वरूप भगवान् को सर्वोत्कृष्ट आध्यात्मिक वैभव की उपलब्धि हुई। वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी पद से विभूषित हुए। तत्पश्चात् भगवान् ने जगत् के जीवो को धर्म का

बोध प्रदान किया। अपने समय मे प्रचलित नाना प्रकार की भ्रान्तिमय धारणाओ का उन्मूलन किया। धर्म के नाम पर चलने वाले पाखण्डो का भडा फोडा। सामाजिक वैषम्य को, जो अनीति और जुल्म पर आधारित था, दूर किया। अहिंसा का दिग्दिगन्तव्यापी प्रचार किया। तरह-तरह की लोकमूढताओ के अभिशापो का अन्त किया।

भगवान् ने चतुर्विध सघ की स्थापना की, जिससे उनका धर्म शासन चिरकाल तक व्यवस्थित रूप मे चलता रहे। भोगविलासमय जीवन दुःख का जनक है, यह समझा कर लोगो को तप, त्याग और सयम के पथ मे प्रवृत्त किया। सक्षेप मे, भगवान् की देन अनुपम है। आज हमे जो भी प्रकाश प्राप्त है, वह भगवान् के ही अलौकिक ज्ञान का फल है। अतएव जितना भी उनका गुणगान किया जाय, वह थोडा ही है।

मेरे कथन का आशय यह न समझ लिया जाय कि भगवान् महावीर ने किसी नूतन अभूतपूर्व धर्म की सस्थापना की। नही, उन्होने प्राचीन काल से चले आये जिन धर्म को वेग प्रदान किया और इस ढग से धर्मतत्त्व को प्रस्तुत किया कि अपने युग के लोग उसे सरलता से समझ सके और वक्तापूर्वक अन्यथा प्रकार की कल्पनाओ को अवकाश न रहे।

धर्म वस्तुत शाश्वत है। 'वत्थुसहावो धम्मो' अर्थात् धर्म वस्तु का स्वरूप है, अतएव जैसे अपने मूल रूप मे वस्तु अनादि-अनन्त है, उसी प्रकार धर्म भी अनादि-अनन्त है। फिर भी सयम-समय पर उसे वेग देने की आवश्यकता होती है।

एजिन मे शक्ति है पर उस शक्ति का प्रयोग करने के लिए ड्राइवर चाहिए। धर्म एजिन है जो आत्मा रूपी गाडी को मोक्ष तक पहुँचा देता है। परन्तु उसका सचालन कर्ता होना चाहिए।

तीर्थंकर धर्म रूपी एंजिन के ड्राइवर है, जो अनन्त जीवो को मोक्ष तक ले गये ।

धर्म को अगर रथ समझ लिया जाय, जिस पर आरूढ होकर मनुष्य मुक्ति-धाम पहुँचता है, तो तीर्थंकर भगवान् को सारथी कहना उपयुक्त होगा ।

यद्यपि सारथी स्वय रथ को नही खीचता, तथापि वह रथ का नियत्रण करता है । वह मार्ग को जानता है, अतएव रथस्थ लोगो को सकुशल इष्ट स्थान तक पहुँचा देता है । सारथी न हो तो रथ बेचारा क्या कर सकता है ? उसकी गति सारथी के ही अधीन है ।

एंजिन मूर्ख के हाथ मे पड कर कुमार्ग मे जा सकता है और यात्रियो के प्राणो के लिए खतरा बन सकता है । जो चलाने की कला नही जानता और मार्ग से अपरिचित है, वह ड्राइवर सकुशल यथेष्ट स्थान पर नही पहुँच सकता ।

भगवान् महावीर कुशल सारथी थे । उन्होने भूले भटके लोगो का पथप्रदर्शन किया । जो उनके द्वारा बतलाए गए धर्मरथ पर आरूढ हुए, उन्हे शिवनगर मे पहुँचाया । आज भी जो उनके द्वारा प्रतिपादित पथ पर चलते है, वे अपना लक्ष्य प्राप्त कर लेते है ।

भूला हुआ पथिक चोरो-डकैतो का शिकार बन जाता है । कभी-कभी निष्ठुर डकैत पथिक को पेड से बाँध देते है और आँखो पर पट्टी बाँध देते है, जिससे वह कल्पना भी न कर सके कि वे चोर किस ओर गये है । जब कोई पथिक इस प्रकार की विषम स्थिति मे पड जाता है तब उसे कितनी चिन्ता होती होगी ? जहाँ मनुष्यो का आवागमन नही है, सुनसान सघन वन है, अन्न-पानी भी नसीब नही

है, हाथ-पैर बँधे है और नेत्रो पर पट्टी है ! कितनी दयनीय दशा है ! क्या ऐसे समय कोई जीवन मे निराश नही हो जाता ?

भाग्यवशात् अकस्मात् कोई दयालु पुरुष उधर से निकले और उस दशा मे उस पथिक को देखे और उसे बन्धनमुक्त करने के लिए उसकी ओर बढे तो सूखे पत्तो की खड़खड़ाहट सुनकर और किसी की पगध्वनि सुनकर उसकी घबराहट और भी अधिक बढ जाती है। वह थर-थर काँपने लगता है। सोचता है—अब प्राणो का अन्त आया। अब इस जिंदगी के बचने की कोई आशा नही है। इस प्रकार वह घोर सकट का अनुभव करता है।

प्राणी को प्राणभय सब से बडा भय है। कहा है—
धनकोटि परित्यज्य जीवो जीवितुमिच्छति।

करोडो का धन एक तरफ हो और जीवन दूसरी तरफ हो तो मनुष्य उस धन को तुच्छ समझ कर जीवन को ही पसद करेगा। मूढ से मूढ और लोभी से लोभी भी धन के लिए प्राण देना नही चाहेगा।

कहावत है—'आप मरे जग प्रलय।' जब रुपया लेने वाला ही मर गया तो उन रुपयों की उसके लिए क्या उपयोगिता रही ?

प्राण करियाणा—लून-तेल जैसी वस्तु नही है जो रुपये से खरीदे जा सकते हो। वे अपने ही पुरुषार्थ से प्राप्त होते है। जिस जीव ने जैसी करणी की है उसे उतने ही प्राणो की प्राप्ति होती है। एकेन्द्रिय जीव की करणी ओछी है, अत उसे चार प्राण मिलते है। उसकी अपेक्षा द्वीन्द्रिय की करणी अधिक होने से उसे छः प्राण प्राप्त होते है। इसी प्रकार करणी अर्थात् पुण्य की अधिकता के

अनुसार त्रीन्द्रिय को सात, चतुरिन्द्रिय को आठ, असज्ञी पञ्चेन्द्रिय को नौ और सज्ञी पचेन्द्रिय को दस प्राण प्राप्त होते है।

असज्ञी पचेन्द्रिय तक के जीवो को मन, जो सब इन्द्रियो का राजा है, प्राप्त नही होता। मन के द्वारा ही पुण्य-पाप, धर्म-अधर्म, स्वर्ग-नरक, सुफल-दुष्फल आदि का विवेक और बोध होता है। मन प्राप्त न होने से असज्ञी पचेन्द्रिय तक की सुख-दुख की अनुभूति अव्यक्त है। ये जीव नही समझ पाते कि हमारे लिए श्रेयष्कर और अश्रेयष्कर क्या है? वे केवल जीवनोपयोगी स्थूल बाते ही समझ पाते है। जैसे मनुष्य किसी के कथन को श्रवण करके उसके आशय को समझता है, उसके औचित्य-अनौचित्य पर विचार करता है, तदनुकूल प्रवृत्ति-निवृत्ति करके अपना हिताहित साधन करता है, उस प्रकार असज्ञी जीव नही कर सकते। यह काम मन का है और मन रूपी शक्ति उनको प्राप्त नही है।

जिन जीवो को मन प्राप्त होता है, वे सज्ञी पचेन्द्रिय कहलाते है। उन्हे समनस्क भी कहते है। समनस्क जीव सुन करके विचार कर सकते है, क्योकि विचार करने—मनन करने—की शक्ति को मन कहा गया है। असज्ञी जीव सुन सकते है, उस सुने हुए से लाभ नही उठा सकते। जैसे पानी आया और चला गया, उसी प्रकार असज्ञी जीवो के कानो मे शब्द पडा और निकल जाता है। उसका कोई सस्कार या बोध उनमे नही रहता। वे शब्दो को सुनकर भी उनका अभिप्राय नही समझ सकते और इस कारण उससे कोई लाभ भी नही उठा सकते। उनमे हित-अहित की विचारणा नही है।

इस प्रकार दस प्राणो मे मन मूर्धन्य प्राण है। वह ससारी जीव की सब मे बडी शक्ति है। उसी के द्वारा जीव अपने भविष्यत्

कालीन सुख-दु ख का विचार करता है। यह कार्य करने मे यह परिणाम निकलेगा, इस प्रकार की विवेचना मन के द्वारा ही होती है।

आप जानते है कि जो शक्ति जितनी महत्त्वपूर्ण होती है, उसका सदुपयोग जैसे विशेष हितकर होता है, वैसे ही दुरुपयोग विशेष अहितकर होता है। इसी तथ्य को सामने रख कर कहा गया है—

मन एव मनुष्याणा कारण बन्धमोक्षयो ।

अर्थात् मनुष्यों का—जीवो का—मन ही कर्मबध एव कर्ममोक्ष का प्रधान कारण है।

आध्यात्मिक साधना मे सब से बडो महत्त्वपूर्ण बात मन का संयम ही है। मन को वशीभूत करने के लिए हो सब अनुष्ठान किये जाते है। तपश्चरण चाहे बाह्य हो या अन्तरग, मनोनिग्रह के लिए है। स्वाध्याय और ध्यान का लक्ष्य भी मन को वश मे करना ही है। योगसाधना भी इसी उद्देश्य से की जाती है। जिसका मन वशीभूत हो गया है, उसे अन्य साधना की आवश्यकता हो नही रहती।

साधना का निचोड़ इन शब्दो में आ जाता है—

वश मनो यस्य समाहित स्यात्,
कि तस्य कार्य नियमैर्यमैश्च ।

हत मनो यस्य च दुर्विकल्पै,
कि तस्य कार्य नियमैर्यमैश्च ॥

अर्थात्—जिसका मन समाधियुक्त हो गया है, उसे नियमो और यमो से क्या करना है! और यदि मन, राग-द्वेष की परिणति से दूपित है, नाना प्रकार के पापमय विकारो से दूपित है और चचल तथा विकृत है तो ऊपर मे लादे गये नियम-यम किस काम के है!

तात्पर्य यही है कि नाना प्रकार के नियम और व्रत मन को आत्मा मे एकाग्र करने के लिए ही है। अगर यह प्रयोजन सिद्ध हो गया है तो समझना चाहिए कि साधना सफल हो गई है।

किन्तु मन का सयत हो जाना साधारण बात नही है। वह बड़ा चपल, हठी और बलवान् है। बहुत-बहुत प्रयत्न करने पर भी वह वशीभूत नही होता। भक्त मन को भगवान् के साथ जोडने के लिए माला फेरता है, मगर माला हाथ मे रह कर फिरती जाती है और मनीराम जी न जाने कहाँ खिसक जाते है। साधक ध्यान करने के लिए आँखे मूद कर बैठता है, पर आँखे मुदी रह जाती है और मन स्वैर विहार करने के लिए चल पडता है। ऐसी स्थिति मे मन का सयम करना सरल नही है। फिर भी अभ्यास और वैराग्य के द्वारा उसे नियन्त्रित करना असभव नही है। असभव होता तो साधना का उपदेश ही क्यो दिया जाता? अशक्यानुष्ठान के लिए कोई किसी को उपदेश या आदेश नही देता। लगातार प्रयत्न करने से मन काबू मे आ ही जाता है।

अभिप्राय यह है कि दस प्रकार के प्राणो मे मन ही प्रधान है। मन बडी जबर्दस्त शक्ति है। उसका सदुपयोग महान् कल्याणकर होता है और दुरुपयोग अत्यन्त अकल्याणकारी सिद्ध होता है।

हाँ, तो ये प्राण मूल्य मे नही खरीदे जा सकते। यदि मूल्य से खरीदे जा सकते तो राजा-महाराजा और सेठ-साहूकार कभी न मरते। वे पैसे देकर नये प्राण खरीद लेते और इस प्रकार अजर-अमर हो जाते। मगर ऐसा होना सभव नही है।

फटा कपडा साधा जा सकता है, टूटी हुई रस्सी फिर जोडी जा सकती है, मगर जो आयु एक प्रकार टूट चुकी, उसे साधना सभव नही।

जब भगवान् महावीर का निर्वाणकाल सन्निकट आया तो इन्द्र ने उनसे निवेदन किया—प्रभो ! इस समय चन्द्र के साथ भस्मग्रह का योग है। आपके जीवन-काल मे बहुत-सा समय तो व्यतीत हो चुका है, अब सिर्फ दो घडी ही शेष है। दो घड़ी के पश्चात् यह योग समाप्त हो जाएगा। भगवन् ! आप महाबली है, लोकोत्तर सामर्थ्य से सम्पन्न है थोडी आयु बढा लीजिए।

भगवान् ने कहा—यह अशक्य है देवराज ! आयु बढने वाली वस्तु नही है। वह क्षण-क्षण मे क्षीण होती है पर बढ नही सकती। तीर्थंकर भी आयु मे साँध नही लगा सकते।

आज के लोग आयु बढाने के लिए विविध प्रकार के पापमय उपाय काम मे लाते हैं। कोई मास खाते है तो कोई अण्डे चूसते है। कोई कॉड-लीवर-आयल का उपयोग करते हैं तो कोई दूसरे प्राणियो के अगो का उपयोग करते है। ऐसा करने वालो मे से एक भी सदा के लिए जीवित नही बचा और बच भी नही सकता। वे प्राणियो के प्राण हरण करके पाप के भागी बनते है और मर कर अधोगति मे जाते हैं।

पटियाला के भूतपूर्व राजा भूपेन्द्रसिह जब मरने लगे तो उनके राजगुरु ने, जो बगाली था और काली देवी का उपासक था, हजारो भैसो और बकरो की बलि चढवाई, मगर राजा न बचा। वह अपनी आयु समाप्त होते ही चल बसा। बेचारे मूक बकरो और भैसो का निष्ठुर कत्ल हुआ सो मुफ्त मे।

पटियाला रिसायत मे सनाम नामक एक कस्बा है। वहाँ के पुलिस-इसपैक्टर ने काली का एक मन्दिर बनवाया। मैं भी उस गाँव

मे पहुँच गया। मैं ने अहिसा के विषय पर भाषण दिया और हिसा के फल का विवेचन किया। भाषण सुनकर वह पुलिस इस्पेक्टर प्रकपित हो उठा।

उसके बनवाये हुए मन्दिर की प्रतिष्ठा के समय अन्य सब लोग तो उपस्थित रहे, मगर जैन लोग उसमे सम्मिलित नही हुए। उन्होने सोचा कि—यह मन्दिर काली देवी का है और काली मैया प्रतिदिन बकरो का भोग मांगेगी। इस मन्दिर की प्रतिष्ठा मे सम्मिलित होना हिसा की अनुमोदना करना है। यह सोच कर वे शामिल न हुए। मगर वह राजकीय पदाधिकारी था और फिर पुलिस का इस्पैक्टर। उसमे बड़ा जोष था। पर मेरा व्याख्यान सुनकर उसका भी दिल पिघल गया। उसने खड़े होकर आजीवन के लिए मास-मदिरा का परित्याग कर दिया।

मैंने उसे समझाया—

प्राणा यथाऽऽत्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा।

जैसे तुम्हे अपने प्राण प्यारे है, उसी प्रकार प्रत्येक प्राणी को, चाहे वह छोटा हो या बडा, बोल सकता हो अथवा न बोल सकता हो, अपने-अपने प्राण प्यारे लगते है।

यह सुनकर उसने मन्दिर मे हिसा न करने की प्रतिज्ञा ग्रहण की। उसने मन्दिर मे शिलालेख लगा दिया कि इस मन्दिर मे आगे को प्राणिवध नही होगा।

तो अभिप्राय यह है कि मरने से सभी को भय होता है। कोई भी प्राणी मरना नही चाहता—

सव्वे पाणा वि इच्छंति,
जीविउ न मरिज्जिउ।

दु खी से दु खी प्राणी भी जीवित ही रहना चाहता है। कोई मरना नही चाहता।

जिसे थोडा-सा भी विवेक प्राप्त है, वह जीवो के प्राणो का हरण करना पाप समझेगा। यही नही, वह उन पर अनुकम्पा भी करेगा। 'अनुकम्पनमनुकम्पा।' अर्थात् जिस प्रकार जीवो को साता उपजै, उनका दु ख दूर हो, उनकी अशान्ति मिटे, उनका आर्तध्यान कम हो, उस प्रकार चेष्टा करना क्रिया करना अनुकम्पा है। जीवो को अनुकूल क्रिया करके शान्ति-समाधि पहुचाना अनुकम्पा का अर्थ है।

धर्माचरण मे अनुकम्पा का स्थान बहुत ऊँचा है। अनुकम्पा से ही आचार धर्म के अकुर फूटते है और पनपते है। अन्त करण मे अनुकम्पा होगी तो अन्यान्य धर्म भी हो सकेंगे। अनुकम्पा के अभाव मे कोई भी धर्म नही टिक सकता। जिसके हृदय मे जीवानुकम्पा नही, वह कोई भी पाप का कार्य कर सकता है। वह हत्या करता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है, दूसरो को लूटता है, पडौसी के घर मे आग लगा देता है, रेल की पटड़ी उखाड कर गाडी को उलट देने का प्रयत्न करता है। कोई भी भयकर मे भयकर पापाचार वह निस्सकोच भाव से कर डालता है। जब मनुष्य की ऐसी मानसिक स्थिति हो तो आप समझ सकते है कि वह धर्म का विचार भी कैसे करेगा?

तो अनुकम्पा के द्वारा ही चित्त मे कोमलता आती है। बीज बोने से पहले खेत को कई बार जोत कर मुलायम कर लिया जाता है। अगर वह मुलायम न हो, खेत की धरती कठोर बनी रहे तो बीज उसमे उग नही सकता। इसी प्रकार अनुकम्पा से कोमल बने हुए

चित्त मे ही धर्म के वीज पनप सकते है । भारत के प्राचीन ऋषि, चाहे वह जैन हो या जैनेतर, सभी ने अनुकम्पा—दया को धर्म का मूल स्वीकार किया है और भारतवर्ष के अपढ लोग भी वोला करते है —

दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान ।
'तुलसी' दया न छाडिये, जव तक घट मे प्रान ॥

दया धर्म का मूल है । जैसे मूल के सहारे हो वृक्ष टिक सकता है और मूल के उखड जाने पर वृक्ष धराशायी हो जाता है, उसी प्रकार धर्म भी दया के आधार पर टिकता है, दया के अभाव मे नही । अतएव मनुष्य का यह पवित्र कर्त्तव्य है कि वह अपने जीवन के अन्तिम श्वास तक दयाधर्म का पालन करे ।

संस्कृत भाषा के एक विद्वान् ने कहा है—

न सा दीक्षा न सा भिक्षा, न तद्दान न तत्तप ।
न तद् ध्यान न तन्मौन, दया यत्र न विद्यते ॥

जहाँ दया नही वहाँ सव धर्माचरण व्यर्थ है । दया के अभाव मे दीक्षा दीक्षा नही, भिक्षा भिक्षा नही, दान दान नही, ध्यान ध्यान नही और मौन मौन नही । यह सव आडम्बर है, दिखावा नही है ।

दया का स्वरूप और क्षेत्र अत्यन्त विराट् है । वह लोकोत्तर धर्म भी है और लौकिक धर्म भी है। दया वह धर्म है जिससे इह लोक और परलोक, दोनो सफल होते है । दया के विना समाज भी नही टिकता । मनुष्य पारस्परिक सहानुभूति रखते है, दु खदर्द के समय एक दूसरे के सहायक होते है, सकट के समय अवलवन और आश्वासन देते है । इन्ही आधारो पर समाज चलता है । यह सव अनुकम्पा के ही विविध रूप है ।

थोडी देर के लिए ऐसे ससार की कल्पना कीजिए जहाँ किसी भी मनुष्य के अन्त.करण मे लेश मात्र भी अनुकम्पा न हो। माता-पिता सन्तति के प्रति और सन्तति को माता-पिता के प्रति तनिक भी दया न हो तो दुनिया की क्या दशा हो ? पडोसी के घर मे आग लगी है और बाहर से द्वार बन्द है। अन्दर के मनुष्य आग मे भस्म हो जाने की तैयारी मे है और वे बाहर निकलने के लिए पुकार रहे है, चीख रहे हैं, मगर पडौसी यदि उनके मकान का द्वार नही खोलता और सोचता है कि—'मर रहे हैं तो भले मरे, जल रहे है तो भले जले, अपने कर्म का फल भोग रहे है। कर्मों का कर्जा चुका रहे है। हम बीच मे दस्तन्दाजी क्यो करे ? ये लोग मौत मे बच जाएगे तो जिन्दा रह कर नाना प्रकार के पाप कर्म करेंगे, बचाने के कारण हमे भी उनके पापो के फल का भागी होना पडेगा।' और इस प्रकार विचार करके वह दया नही दिखलाता और उन्हे आग मे भुन जाने देता है तो आप उसे धर्मनिष्ठा का प्रमाणपत्र देंगे या निष्ठुरता का ? उसे देवता समझेंगे या राक्षस ? क्या इस प्रकार के निर्दय, निष्ठुर और विवेकविहीन विचारो से जगत् मे शान्ति हो सकती है ? कदापि नही। यह तो दया देवी का ही प्रताप है कि दुनिया मे थोड़ी-बहुत शान्ति दृष्टिगोचर होती है।

जिन्हे हम निर्दय और हिंसक के रूप मे पहिचानते है, उन प्राणियो मे भी दया का किंचित् अस्तित्व होता ही है। दया प्रकृति का सिद्धान्त है और उसका शासन सर्वत्र है। ऐसी स्थिति मे अगर कोई सम्प्रदाय या पन्थ दया का निषेध करता है तो समझना चाहिए कि वह धर्म के मूल को उखाड कर फेक देना चाहता है और मनुष्य के कलेजे को पत्थर का बनाना चाहता है। वह समाज का घात करता है और मानव जाति के कल्याण के मार्ग मे शूल बिखेरता है।

यही कारण है कि भगवान् ने अनुकम्पा को उच्च स्थान दिया है। मगर अनुकम्पा का वह उच्च स्थान कहाँ है ?

'हृदय मे।'

ठीक है, पर इस भाव को अन्दर ही रहने दोगे या व्यवहार मे भी लाओगे ?

हमारा पडौसी सम्प्रदाय कहता है—'मरने वाला मरता है तो हमे क्या मतलव ! दया तो हृदय मे है। न कसाई मे है, न मरने वाले मे। हमारी दया ऐसी कमजोर नही जो कसाई की छुरी से कट सके।'

उनके कथनानुसार दवा शीशी मे है या पुडिया मे हे। वह उसी मे रही हुई अपना असर दिखला देगी। मगर कभी ऐसा हुआ है ? जवतक दवा का सेवन न किया जायगा तवतक उससे लाभ नही हो सकता। दवा शीशी मे भरी रहने के लिए नही हे। वह वीमार के सेवन करने के लिए है। दवा को शीशी मे से निकाल कर रोगी को देना होगा और तभी वह काम की होगी। दया हृदय मे है सो ठीक़ है, मगर अवसर आने पर वह काम मे आनी चाहिए।

कहने वाले कहते है—हमारी दया रूपी निधि हमारे पास है। परन्तु वह दया जवतक वाहर नही आती तवतक तीन कौडी की भी नही है। दवा वोतल मे पडी-पडी सड जाएगी यदि उसका उपयोग न किया गया।

तो धन वही है और तन वही है जो कार्यकारी हो—काम मे आता हो। जो उपयोग मे नही आता वह किस काम का ? उसका होना न होने के समान है। इसी प्रकार जो दया दीन-दुखियो का दु ख-दर्द दूर करने मे काम आती है वही सच्ची दया है।

कितने आश्चर्य की बात है कि जिस दया को मुसलमान भी धर्म मानते है और जिसके विना जगत् नरक बन सकता है, उसी का हमारे भाई लोग निषेध करते हैं और मरते हुए प्राणियो की रक्षा करने मे अधर्म—पाप कहते है !

जैनधर्म दयामय धर्म है। वह इस प्रकार की अहितकर और पापमय मान्यताओ का समर्थन नही करता। यही कारण है कि अनुकम्पा को सम्यक्त्व के लक्षणो में परिगणित किया गया है। जिसमे सम्यक्त्व है उसमे अनुकम्पा अवश्यमेव होनी चाहिए। अनुकम्पा नही है तो सम्यक्त्व भी नही है। सम्यग्दृष्टि जीव दुखी के दुःख को दूर करने मे कदापि पाप नही समझेगा; मरते हुए प्राणी की रक्षा करने मे हर्गिज़ पाप नही मानेगा। मिथ्यादृष्टि भी दयावान् हो सकता है पर सम्यग्दृष्टि दयाविहीन नही हो सकता।

सम्यक्त्व के पाँच लक्षण है—शम, सवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्था। सम्यक्त्व उत्पन्न होने पर यह पाँच लक्षण अवश्य उत्पन्न हो जाते है।

सम्यक्त्व की पहचान इन्ही लक्षणो से होती है। वह कोई काली पीली या धौली दिखाई देने वाली वस्तु नही है। गूँगा मिष्टान्न खाता है और उसकी मधुरता का आस्वादन भी करता है, परन्तु उसे व्यक्त नही कर सकता। उसका आनन्द चखने वाला ही जानता है। दूसरे लोग तो गूँगे की शक्ल देखकर उसके आनन्दानुभव का अनुमान ही कर सकते हैं। इसी प्रकार हम किसी के मनोभावो को प्रत्यक्ष से नही जान सकते, तथापि लेख और वचन आदि से अन्दर के भाव प्रकट हो सकते है। हड्डियो की खराबी एक्स-रे मे ही मालूम होती है, देखने मात्र से नही। हृदयस्थ मन्तव्य चेष्टाओ से व्यक्त होते है।

मनुष्य का दु ख किसी न किसी प्रकार व्यक्त हो ही जाता है। आँसू अन्तर्निहित वेदना को व्यक्त कर देते है। आँसू भी दो प्रकार के होते है—दु ख के और सुख के। पूर्वकृत पापो का स्मरण करने से जो आँसू आते हैं, उनका मूल्य मोतियो से अधिक है। शास्त्रकारो ने अश्रुपात को आर्त्तध्यान का लक्षण वतलाया है पर वे आँसू और हैं। पाप का नाश करने के लिए गिराये गये आँसू लाभजनक है। ऐसे आँसू इतने अधिक निकालो कि अन्तरतर की पाप की कालिम धुल जाय।

मगर इस प्रकार के आँसू तो किसी विशिष्ट भव्यात्मा के ही नेत्रो से निकल सकते हैं। अधिकाँश लोगो की आँखो से तो वही आँसू निकलते है जिन्हे शास्त्रकारो ने आर्त्तध्यान मे गिना है। वे मोह और शोक के कारण निकलते है और असातावेदनीय कर्म के वन्ध के कारण होते है।

जो जन्मा है वह अवश्य मरेगा, यह अनादि काल की रीति है। अगर किसी का कोई आत्मीय मर गया है और सेवा करते-करते मरा है तो उसके कुटुम्वियो को धैर्य रखना चाहिए। सेवा करके उन्होंने अपने कर्त्तव्य का पालन किया और जिस सीमा तक जो उपाय शक्य था, वह सव कुछ किया। यही धैर्य और सान्त्वना के लिए पर्याप्त आधार है। कोई किसी को मरने से तो वचा नही सकता और न अपनी आयु का कुछ अश दूसरे को दे ही सकता है।

यदि अपनी थोडी सी आयु हम औरो को देवे,
तो कुछ काल उन्हे दुनिया मे हम जीवित रख लेवे।
किन्तु आयु का देना-लेना कव किसने देखा है?
आयु कर्म की हे अज्ञानी! यह प्रवल अमिट रेखा है।।

जव ससार की ऐसी स्थिति है तो किसी के मरने पर रोने मे क्या लाभ है ? कोई कितना ही रोये, मृतक व्यक्ति लौट कर नही आ सकता। फिर भी कई अज्ञानी लोग मृतक के पीछे दो-चार वर्ष तक रोते रहते है। इस प्रकार रुदन करने से कुछ लाभ नही, बल्कि कर्मो का चिकना वध होता है।

बहुत वार तो लोकरीति के लिए रोया जाता है। लोग भी इतने अज्ञान है कि कोई अगर रुदन न करे तो उसकी कटु आलोचना करते है। इस मूर्खता की कोई सीमा नही। यह अशिक्षा और असस्कृति का ही नतीजा है। इसके कारण नाइन छाती कूटने की कला सिखलाती है। इस सम्बन्ध मे क्या कहा जाय !

इसमे सन्देह नही कि आत्मीय जनो का वियोग दुख और सताप उत्पन्न करता है। मगर उसके लिए रिवाज के तौर पर रोना और दभ करना अत्यन्त अवाछनीय है। ऐसे अवसर पर विशेप रूप से धर्म का आचरण करना चाहिए और वैराग्य को प्रोत्साहन देने वाले ग्रथो का स्वाध्याय करना चाहिए ताकि मन को धैर्य मिले और शोक-सन्ताप दूर हो, मगर लोग इसके विपरीत आचरण करते हैं। धर्मक्रिया करना छोड देते हैं पर व्यापार-धधा और खाना पीना चालू रखते हैं। विचार तो इस प्रकार करना चाहिए—

जो जन्मा सो आया मरण मे सभी मौत का भोग,
आया ही को मरना होगा किस का करिए सोग।
काया हो आई पावणी तेरा हस वटेऊ लोग ॥

सज्जनो ! जिसने शरीर को ग्रहण किया है वह शरीर का त्याग भी अवश्य करेगा। भूचर, खेचर, योगी, भोगी, रोगी, नीरोगी राजा, रक, ब्राह्मण चॉडाल, सब को एक दिन मौत का आलिगन

करना ही है। सब काल के भक्ष्य है। काल का पेट भरा नही और भरने वाला भी नही। काल की भूख सदैव ताजा रहती है

पुरन्दरसहस्त्राणि चक्रवर्त्तिशतानि च।
निर्वापितानि कालेन, प्रदीपा इव वायुना ।।

वायु का एक झोका लगते ही जैसे टिमटिमाता हुआ दीपक वुझ जाता है, उसी प्रकार काल के एक ही झपट्टे मे इन्द्र और चक्रवर्त्ती भी समाप्त हो जाते है।

इन्द्र देवो के राजा होते है। चक्रवर्त्ती मनुष्यो के सबसे वडे राजा है। उनका ऐश्वर्य असाधारण और सामर्थ्य भी अनुपम होता है। परन्तु काल के जाल मे पडने पर उनकी भी रक्षा नही हो सकती। ऐसी स्थिति मे साधारण मनुष्यो का तो कहना ही क्या है?

सिकन्दर वादशाह की मृत्यु हुई तो उसकी माता कब्र पर जा कर रोने लगी और अपने वेटे के लिए विलाप करने लगी। शोक की प्रवलता से उसके चित्त मे उन्माद उत्पन्न हो गया।

उन्माद दो कारणो से उत्पन्न होता है—यक्ष-भूत आदि के आवेश से और मोह के आवेश से। यक्षोन्माद तो अल्पकाल मे ही दूर हो सकता है, परन्तु मोहोन्माद वडा ही भयकर है। यह अनादि काल मे जीव को पागल वनाये हुए है। इसके प्रभाव से जीव विवेक-हीन हो रहा है। उसे अपने आप का भी भान नही है। पागलो की भाँति नाना प्रकार की चेष्टाएँ करता है। यह उन्माद ज्ञानियो की ही दृष्टि मे आता है और वडी कठिनाई से दूर होता है। इसमे मत्र, तत्र, गडा और तावीज कुछ भी काम नही आते।

हाँ, तो सिकन्दर की माता फूट-फूट कर रोने लगी। तव आकाशवाणी हुई कि—ऐ वृद्धा, तू किसे वुलाती है?

बुढिया ने कहा—मैं अपने सिकन्दर को बुला रही हूँ।

आकाशवाणी ने कहा—अब तेरे सिकन्दर का क्या पता! यहाँ हजारो सिकन्दर हो चुके है और मिट्टी मे मिल चुके है। तू क्यो पगली बन रही हे। जो जन्मा है सो मरेगा। तुझे भी एक दिन मरना होगा—

एक आवन्दा एक जावन्दा तेरा मेरा सच।
तेरा कागज बच गया मेरा कागज हथ।

यह अनादि का सिलसिला है। धन्वन्तरि जैसे वैद्य भी मर गये। बडे बडे नामी डाक्टर भी कूच कर गये। कोई नही बचा, न बचेगा।

जब मृत्यु प्रकृति का अनिवार्य विधान है तो उसके आने पर इस प्रकार पागल हो जाना उचित नही।

पजाब मे मैंने इस विषय मे प्रचार करके तीन दिन से अधिक तपड न रखने का नियम करवाया है और सुबह-शाम न रोने की भी प्रतिज्ञाएँ करवाई हैं।

जिस परिवार मे मृत्यु हो जाती है, वहाँ दूसरे घरो की महिलाएँ मुकान करने—शान्ति देने के लिए आती है। प्रथा का मूल उद्देश्य तो बडा अच्छा हे परन्तु हो रहा है कुछ और ही। वे आकर और अधिक रुलाती है। आने वाली स्त्रियाँ अपना पेट तो पहले ही भर कर आती हैं और साथ मे कुछ खाने को लेकर आती हैं। जब घर निकट आता है तो चिल्लाने लगतीहैं। खतरे की घटी की तरह या अलार्म की तरह सूचना देती हे। स्वय रोती या रोने का दिखावा करती हैं और जिनके घर जाती हे उन्हे रुलाती हे। घूघट मे मुह छिपा रहता हे, अतएव आसू तो दिखने नही, कई यो ही चिल्लाती रहती हैं।

पजाव के एक गाँव का किस्सा है। एक नई वहू रोने के लिए गई। गुरु महाराज ने उससे पूछा— आज व्याख्यान सुनने क्यो नही आई ? तव उसने कहा—महाराज, आज रोने गई थी।

महाराज—सचमुच रोना आया ?

वहू—नही तो।

महाराज—तो फिर क्यो गई ?

वहू—मैं तो रोना सीखने गई थी।

नई वहुएँ रोने मे कम विश्वास करती है, परन्तु ये बुढियाएँ अपनी लकीर नही छोडती।

जैनधर्म जैसे अध्यात्मप्रधान धर्म को पाकर आपको तात्त्विक दृष्टि से विचार करना चाहिए और अहितकर रूढियो को विना सोचे-समझे नही निभाना चाहिए। जातीय तौर पर आपको मर्यादा वाँधनी चाहिए कि इतने दिन से अधिक न रोएँगे, उन दिनो मे भी अमुक समय नही रोएँगे और रुलाने के लिए किसी के घर नही जाएँगे, सान्त्वना और धीरज देने के लिए ही जाएँगे।

आर्त्तध्यान का फल वडा ही कटुक होता है। यह पापवध का कारण है। इससे जितना अधिक वचोगे उतना ही आपका कल्याण होगा। आर्त्तध्यान से वचते हुए भी शोकसन्तप्त जनो को सान्त्वना दी जा सकती है। सान्त्वना देने का निषेध नही है, सहानुभूति प्रकट करने का विरोध नही है और वीमारी की स्थिति मे किसी की सेवा करने मे पाप नही है।

कई लोग कहते है—'मरते को वचाना एकान्त पाप है। भगवान् महावीर ने अपने दो शिष्यो को नही वचाया।' ऐसा कहने

वाले उन बेचारो को पता नही कि भगवान् अतिशयज्ञानी थे और उन्हे मालूम था कि इन साधुओ की आयु इसी प्रकार समाप्त होने वाली है। फिर भी भगवान् ने व्यवहार साधने के लिए अपने सब साधुओ को हिदायत कर दी थी कि गोशाला आने वाला है। वह ऐसा व्यवहार करेगा जिससे तुम लोगो के चित्त मे क्षोभ हो पर सब मौन धारण करके रहना। कोई बोलना मत। प्रतिवाद करने की आवश्यकता नही है।

इस प्रकार भगवान् भविष्य के वेत्ता थे। उनकी देखादेखी करने वालो को चाहिए कि पहले उनके समान ज्ञानी तो बन ले। कीडी हाथी की होड करने चलेगी तो उसका कही ठिकाना न लगेगा।

एक दुराचारिणी स्त्री से किसी सुशीला ने कहा—बिना कारण पराये घर जाना स्त्री का ठीक नही है। इससे कुल की कीर्त्ति कलकित होती है और आत्मा का अध पतन होता है। नारी जाति की प्रतिष्ठा को धब्बा लगता है।

यह हित-उपदेश सुनकर उसने तमक कर कहा—सीता भी तो रावण के घर रही थी। जब उसको गिनती सतियो मे की गई है तो मेरे जाने मे क्या हर्ज है?

धन्य है ऐसी भद्रा, जो सीता का उदाहरण देकर अपने पाप को धोना चाहती है! बात करते है महावीर की और यह जानते ही नहीं कि वे अपने विशिष्ट ज्ञान से भविष्य को देख रहे थे।

तारीफ तो यह है कि भगवान् महावीर का अनुकरण करने वाले इन लोगों के सामने जब भगवान् के द्वारा गोशालक की रक्षा करने का उदाहरण पेश किया जाता है तो चट कह देते है कि— भगवान् भूल गये। ऐसे भक्तो को क्या कह कर समझाया जाय जो

अपने उपास्य देव को भी भूला हुआ समझने है। भगवान् भूल सकते हैं परन्तु यह नही भूल सकते।

भगवान् महावीर ने ही अनुकम्पा का मार्ग बतलाया है। आज जगत् मे जो करुणाभाव है वह भगवान् जैसे महापुरुषो के उपदेश का ही असर है। जैनधर्म के अनुयायी आज जो मास-मदिरा के सेवन के पाप से बचे हुए है, यह भगवान् महावीर की ही महान् देन है, उन्ही का असीम उपकार है। उन्ही की शिष्य परपरा द्वारा हिंसा निषेध का प्रचार करने से पजाब जैसे प्रान्त मे भी जैन लोग इस विषय मे दृढ है।

भगवान् न होते तो न जाने ससार की क्या दशा हुई होती ! जिस समय भगवान् महावीर तीर्थंकर के रूप मे इस धराधाम पर अवतीर्ण हुए तो भारत की स्थिति अत्यन्त विषम थी। हिंसा का त्रास बेहद बढ गया था। गाय और घोडा जैसे पशुओ को गाजर-मूली से भी सस्ता समझा जाता था। धधकती हुई आग की ज्वालाओ मे उन्हे झोक दिया जाता था। यही तक यह कुप्रथा सीमित नही थी, मनुष्यों तक की बलि दे दी जाती थी और नरमेध यज्ञ किये जाते थे।

भारत की जनता नाना प्रकार की मूढताओ मे फँसी हुई थी। तरह-तरह के वहम जीवन को विषम बना रहे थे। आध्यात्मिकता पर पर्दा पड गया था और बहिर्मुखता का बोलबाला था। ऊपरी क्रियाकाण्ड मे ही धर्म माना जा रहा था। ऐसे समय मे भगवान् ने साधना के द्वारा सर्वज्ञता प्राप्त करके विश्व को एक नूतन पथ प्रदर्शित किया। प्रभु ने अहिंसा को आचारधर्म की कसौटी मान कर आत्मसयम, आत्मदमन का उपदेश दिया और स्पष्ट निर्घोष किया कि ससार मे मनुष्य ही जीव नही है, एकेन्द्रिय भी जीव है, द्वीन्द्रिय

आदि भी जीव है और पशु-पक्षियो मे भी मनुष्यो जैसी आत्मा विद्यमान है। मनुष्य शक्तिशाली है तो इसलिए कि वह उन असमर्थ और असहाय जीवो की उसी प्रकार रक्षा करे जैसे बडा भाई अपने छोटे भाई की रक्षा करता है या बाप बेटे की रक्षा करता है। बडे का बडप्पन छोटे को निगल जाने मे नही, उसका जीवन-सहायक होने मे है।

बडे के द्वारा छोटो को सताया जाना मत्स्यगलागल न्याय है। अगर यह अन्यायपूर्ण न्याय जगत् मे लागू कर दिया जायेगा तो जगत् की स्थिति अत्यन्त विषम ही नही, भयकर हो जाएगी। प्रत्येक सबल निर्बल को सताएगा तो इसी धरती पर नरक आ जाएगा। ससार मे शान्ति और सुरक्षा का आधार अहिसा है, पारस्परिक रक्षा और सहानुभूति है। इन्ही दिव्य भावनाओ के सहारे प्रत्येक का जीवन शान्ति के साथ निभ सकता है।

यह भगवान् के उपदेश का सार था। उनके प्रभावशाली उपदेशो ने जादू का असर किया और जनता का मानस बदल दिया। हिंसक यज्ञो का यक्ष हो गया और लोगो ने करुणा का सबक सीख लिया। बाह्याडम्बर के बदले सच्ची धार्मिकता का भाव उदित हुआ। इस प्रकार भगवान् महावीर स्वामी ने विश्व को नूतन प्रकाश देकर जो महदुपकार किया है, उसे युग-युग तक विस्मरण नही किया जा सकता।

अहिसा के पक्ष मे सबसे अधिक सबल युक्ति यही है कि प्राणी-मात्र को जीवन प्रिय और मरण अप्रिय है। डकैतो के द्वारा बाँधा हुआ वह पथिक मृत्यु की कल्पना मात्र से अत्यन्त त्रस्त और भीत हो रहा था। तब उस दयालु पुरुष ने उसे मृदु स्वर मे कहा—भाई,

डरो मत। मैं तुम्हे सकट से वचाने आया हूँ, भय से मुक्त करने के लिए आया हूँ।

इस प्रकार वह दयालु पुरुप हृदय मे ही अनुकम्पा रख कर नही रह गया, वल्कि उसने उसकी आँखो को पट्टी खोली। वह चक्षुदाता (चक्खुदयाण) वन गया। उसे वधन मुक्त करके मोचक (मोयगाण) वना। तत्पश्चात् उसे घर जाने का मार्ग वतलाया (मग्गदयाण)। दयाधर्म की सीधी सडक वतलाई। मार्ग मे फिर चोर न मिल जायें, यह सोचकर उसके साथ चार मनुष्य कर दिये, अर्थात् अरिहत, सिद्ध, साधु और धर्म रूप चार शरण दिये। खाने के लिए पाथेय दिया (जीवदयाण)। उसे वोध दिया कि चोरो-डकैतो से वच कर रहना चाहिए (वोहिदयाण)।

ऐसे परमदयालु है हमारे तीर्थकर भगवान्। उनके जितने गुण गाए जाएँ, थोडे है। जो तीर्थकर भगवान् के गुण गाते है वे भवसागर से पार हो जाते है।

राजकोट,
१३—८—५४

आत्मवादी की कामना

महावीर स्वामी मैं क्या चाहता हूँ—
फकत आपका आसरा चाहता हूँ।
मिली तुमको पदवी जो निर्वाण पद की
कि तुम जैसा मैं भी हुआ चाहता हूँ।
वता दू तुम्हे कि मैं क्या चाहता हूँ,
मैं सारे जहाँ का भला चाहता हूँ॥

सज्जनो और धर्म वहिनो !

एक भगवद् भक्त भव्य जीव भगवान् महावीर से विनम्रता-पूर्ण विनती करता है, अपनी मनोभावनाएँ निवेदन करता है, अपने आन्तरिक भावो की अभिव्यजना करता हुआ प्रार्थना करता है—भगवन्, महावीर स्वामिन् ! मेरी एक मात्र यही अभिलापा है कि मुझे आपका अवलम्वन मिले। मैं इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नही चाहता। ससार मे अनन्त प्राणी है, अनन्त पदार्थ है और अनन्त उनकी आकाक्षाएँ है। मगर मेरी एकमात्र आकाक्षा प्रभु का आश्रय प्राप्त करने की है।

भगवान् का अवलम्वन पा लिया तो सभी कुछ पा लिया और भगवान् का अवलम्वन न पाया तो दुनिया का सव कुछ पाकर भी कुछ नही पाया।

प्रश्न हो सकता है कि भगवान् का आश्रय कैसे पाया जाय ? इसका उत्तर यही है कि जव आपके चित्त मे पूरी श्रद्धा और निष्ठा

हो जाएगी कि ससार के पदार्थ आत्मा का त्राण करने मे समर्थ नही है, धन, जन, सेना, महल, मकान आदि दुनिया का वैभव अन्तत व्यर्थ सिद्ध होता है, और इस प्रकार की दृढ निष्ठा होने पर आप उनका भरोसा छोड देंगे और भगवान् पर ही पूर्ण भरोसा करने लगेगे, तभी भगवान् का आसरा आपको प्राप्त होगा। जवतक आपके अन्त करण मे भौतिक पदार्थो सम्बन्धी प्रीति विद्यमान है तव तक समझना चाहिए कि भगवान् के प्रति एकनिष्ठ प्रीति उत्पन्न नही हुई है और जवतक एकनिष्ठ प्रीति स्थापित नही हुई है, तव तक आप भगवान् का आश्रय पाने मे समथ नही हो सकते।

यद्यपि भगवान् आपका हाथ पकड़ने के लिए नही आते, फिर भी उनके नाम-भजन मे ऐसी अपूर्व शक्ति है कि उससे मनुष्य के समस्त सकट दूर हो जाते है। अमरकुमार लपलपाती हुई आग की ज्वालाओ मे से कैसे सकुशल वच गया ? सती सीता की परीक्षा के लिए वनाया गया आग का कुण्ड कैसे शीतल वन गया ? सुभद्रा कच्चे सूत से चालनी मे कुए का पानी भरने मे कैसे समर्थ हो गई ? चन्दनवाला का भूगृह से कैसे उद्धार हो सका ? इन सव साक्षियो से स्पष्ट है कि जहाँ दुनियावी शक्ति असफल हो जाती है वहाँ भागवती शक्ति अद्भुत चमत्कार दिखला सकती है।

भगवान् का नाम नौका के समान है। ससार सागर मे गोता खाने वाले जीव उस नाम-नौका का अवलम्वन करके किनारे लग जाते है।

साधक के सामने जव विकट परिस्थिति उत्पन्न होती है, उसके अन्तर के विकार उसे मार्ग से च्युत करने के लिए जोर लगाते हैं, उस समय वीतराग परमात्मा का स्मरण चिन्तन उन्हे विकार विजय की शक्ति प्रदान करता है।

इसी कारण भक्त कहता है—भगवन् ! मुझे किसी भी अन्य पदार्थ की कामना नही है, सिर्फ आपका आसरा चाहिए। और आपका आसरा इसलिए नही चाहता कि मुझे ससार के भोग्य-उपभोग्य पदार्थ मिल जाएँ, बल्कि मै निर्वाणपद प्राप्त करना चाहता हूँ।

इसके पश्चात् भक्त ने अपनी अभिलाषा प्रकट करते हुए कहा है —

मैं सारे जहाँ का भला चाहता हूँ।

इस विचार मे उदारता की पराकाष्ठा है और क्षुद्र भाव के परित्याग की प्रेरणा समाई हुई है। जिसका अन्त करण प्राणी मात्र के कल्याण की कामना मे पूत होता है, वही अपना कल्याण कर सकता है।

संसार के सभी प्राणी अपनी-अपनी आकाक्षाओ को लिए हुए है। सब की रुचि और मति भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। जिसे जिस वस्तु की इच्छा है, उसकी लगन उसी तरफ लगी रहती है, चाहे वह वस्तु श्रेष्ठ हो या निकृष्ट हो। जो जैसे वातावरण मे रहता है, उसकी रुचि वैसी ही बन जाती है।

आत्मा मे निकृष्टता या श्रेष्ठता का भेद नही है। मूल मे सब आत्माएँ समान हैं, परन्तु विकार या कर्म के सयोग से उनमे अन्तर पडता है। जिसके शुभ कर्म का उदय है, उसका वर्त्ताव श्रेष्ठ होता है और उससे स्वय उसे तो सुख मिलता ही है, साथ ही समाज या सघ को भी सुख की प्राप्ति होती है। इस प्रकार का व्यवहार करने मे वह आत्मा श्रेष्ठ कहलाता है।

इसके विपरीत जिस कार्य का परिणाम किसी को भी सुखद न हो वल्कि सभी को दु.खदायी हो, वह निकृष्ट कार्य कहलाता है।

सभी आत्माएँ समान होने पर भी सस्कारवश उनमे भेद-हो जाता है। जैनसिद्धान्त मे विभिन्न आधारो से आत्मा के अलग-अलग प्रकार से भेद किये गये हैं। एक अपेक्षा से आठ भेद है तो सग्रहनय की अपेक्षा से या चैतन्य धर्म की समानता से आत्मा एक भी है। श्रीठाणागसूत्र मे प्रथम स्थानक मे कहा है —

एगे आया।

अर्थात्—आत्मा एक है।

इस समग्र विश्व मे छ द्रव्य है। इन्ही छ द्रव्यो का पसारा यह ससार सृष्टि है। इनमे आत्मा एक है, जो चेतनामय है और शेप पाँच अचेतन द्रव्य हैं।

सूत्र का आशय यह है कि अनन्तानन्त आत्म-व्यक्तियो मे चैतन्य धर्म समान रूप से विद्यमान है, अतएव चैतन्य की दृष्टि से उनमे भेद नही होता। आत्मा का एकत्व द्रव्य रूप से है। गुण रूप से भी आत्माओ मे पार्थक्य नही है, क्योकि जो ज्ञान-दर्शन आदि गुण एक आत्मा मे है वही सव मे हे। फिर भी व्यक्ति की अपेक्षा से विचार किया जाय तो आत्माएँ अनन्त हैं। आत्मा सम्वन्धी व्यक्ति-भेद प्रत्यक्ष सिद्ध है।

भारत मे एक ऐसी विचारधारा भी प्रचलित है जिसके अनुसार आत्मा एकान्त रूप से एक ही है। परन्तु इस विचारधारा पर जव गभीर विचार किया जाता हे तो वह सदोप सिद्ध होती है।

आत्मा का सर्वथा एकत्व स्वीकार किया जाय तो ससार के समस्त व्यवहार असगत हो जाते है। प्रत्यक्ष देखते हैं कि सव के सुख

दु ख आदि भिन्न-भिन्न हे। जिस समय एक व्यक्ति अत्यन्त दु खी होता है, उसी समय दूसरे व्यक्ति सुख मे मग्न रहते हे। एक दुस्सह वेदना से छटपटाता है तो सव को उस वेदना की अनुभूति नहीं होती। जैसे शरीर के एक अङ्ग में वेदना होने पर समस्त अङ्ग उससे अभिभूत हो जाते है, क्योकि एक शरीर मे एक आत्मा है, उसी प्रकार अगर समस्त शरीरो मे भी एक ही आत्मा मानी जाय तो एक शरीर में सुख-दु ख की उत्पत्ति होने पर सभी शरीरो मे होनी चाहिए। एक ही साथ सव सुखी और सव दु.खी होने चाहिएँ। एक रोगी हो तो सव रोगी होने चाहिएं और एक को आरोग्यलाभ होने पर सव को आरोग्यलाभ हो जाना चाहिए। एक की मृत्यु से सव की मृत्यु और एक के जन्म से सव का जन्म होना चाहिए।

अगर आत्मा एक ही है तो वद्ध और मुक्त का भेद क्यो है? ज्ञानी-अज्ञानी के भेद का क्या कारण है? स्त्री पुरुष का भेद क्यो है?

तात्पर्य यह है कि यदि आत्मा को सर्वथा एक मान लिया जाता है तो ससार की सारी व्यवस्था लुप्त हो जाती है। सव प्रकार की मर्यादाएँ भङ्ग हो जाती हैं। अतएव यही मानना उचित है कि व्यक्ति की अपेक्षा से आत्माएँ अनन्त हैं और सामान्य की अपेक्षा से एक हे। यह सिद्धान्त प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है।

जो तथ्य प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है, उसे प्रमाणित करने के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नही होती। जो वस्तु प्रत्यक्ष से सिद्ध न हो सकती हो, उसके लिए अन्य प्रमाणो की आवश्यकता होती है। आगम मे चार प्रमाण वतलाये गये हैं— (१) प्रत्यक्ष (२) अनुमान (३) आगम और (४) उपमान।

'प्रत्यक्ष' शब्द मे 'प्रति' यह उपसर्ग है । 'अक्ष' का अर्थ है इन्द्रिय और आत्मा । जो सम्यक्ज्ञान इन्द्रियो से उत्पन्न होता है अथवा जो इन्द्रियो एव मन की सहायता के बिना ही सीधा आत्मा से उत्पन्न होता है, वह प्रत्यक्ष कहलाता है ।

शास्त्रो मे प्रत्यक्ष प्रमाण के दो भेद किए गए है—इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और अनिन्द्रियप्रत्यक्ष । पाँच इन्द्रियो से भी वस्तु का हस्तरेखा की तरह प्रत्यक्ष हो जाता है । वही इन्द्रियप्रत्यक्ष कहलाता है। इन्द्रियाँ पाँच है—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र। इनसे क्रमश स्पर्श, रस, गध, रूप और शब्द का ज्ञान होता है । इन्द्रियो से वस्तु का चित्र सामने आ जाता है । मै जो कुछ बोल रहा हूँ, उसे आप स्पष्ट सुन रहे है । इस प्रत्यक्ष मे किसी साक्षी, हेतु या युक्ति की आवश्यकता नही है । किसी को आशका करने की आवश्यकता नही कि मै वास्तव मे बोल रहा हूँ या नही बोल रहा हूँ, आप सुन रहे है या सुनने का भ्रम हो रहा है, मै जो बोल रहा हूँ ,वही आप सुन रहे हैं या अन्य कुछ सुन रहे है । जो कुछ कहा और सुना जा रहा है वह प्रत्यक्ष है । इस प्रत्यक्ष की प्रमाणता सिद्ध करने के लिए किसी भी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नही है ।

साधारण लोग समझते ह कि सिर्फ आँखो से जो ज्ञान होता है वही प्रत्यक्ष कहलाता है, परन्तु यह समझना भ्रम है। जैसे आँख रूप को ग्रहण करती है, उसी प्रकार शेष चार इन्द्रियाँ भी अपने-अपने विषय को ग्रहण करती हैं। हाँ, नेत्र और शेष इन्द्रियो के विषयग्रहण मे अगर अन्तर है तो यही कि नेत्र अपने विषय को स्पर्श किये बिना ही रूप को जान लेता है और शेष इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय को स्पर्श करके जानती है । मगर सब का विषय ग्रहण प्रत्यक्ष मे ही सम्मिलित है।

स्मरण रखना चाहिए कि इन्द्रियो के द्वारा होने वाला ज्ञान लौकिक प्रत्यक्ष या साव्यवहारिक प्रत्यक्ष है, वह वास्तविक-पारमार्थिक प्रत्यक्ष नही है। पारमार्थिक प्रत्यक्ष वह है जो इन्द्रिय और मन की सहायता के विना सीधा आत्मा से होता है। इसमे अवधिज्ञान, मन पर्यायज्ञान और केवलज्ञान का समावेश होता है। अवधि और मन पर्याय ज्ञान अपूर्ण होने के कारण विकलपारमार्थिक प्रत्यक्ष कहलाते है और केवलज्ञान पूर्ण होने के कारण सकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष है।

इन्द्रियजन्य ज्ञान सीमित होता है। इन्द्रियो की शक्ति परिमित है—काल से, क्षेत्र से और विपय की दृष्टि से उसकी सीमा है। कोई भी इन्द्रिय भूत और भविष्य काल के पदार्थो का वोध नही करा सकती, सिर्फ वर्त्तमानकालीन पदार्थ को जानती है। आप किसी वस्तु को देखते हैं तो सिर्फ उसके वर्त्तमान रूप-रग को ही देखते हैं। यह नही देख सकते कि भूतकाल मे उसका रूप-रग कैसा था और भविष्य मे कैसा होगा ? यही वात अन्य इन्द्रियो के सम्वन्ध मे भी है।

इन्द्रियो की शक्ति क्षेत्र की दृष्टि मे भी परिमित है। वह दूर के पदार्थो को नही जान सकती। चार इन्द्रियाँ तो स्पष्ट विषय को ही ग्रहण करती है, चक्षु-इन्द्रिय की भी एक सीमा है।

विपय की दृष्टि से भी वह सीमित है। जिस इन्द्रिय का जो विपय पहले वतलाया गया है, वह उसी को जान सकती है, अन्य विपय को जानने मे असमर्थ है। नेत्र से रस, गध, स्पर्श शब्द नही जाने जा सकते, श्रोत्र से रस आदि का ज्ञान नही होता। कोई भी एक इन्द्रिय, दूसरी इन्द्रियो के विपय का वोध कराने मे असमर्थ है।

अगर एक ही कोई इन्द्रिय स्पर्श, रस आदि पाँचो का ज्ञान कराने मे समर्थ होती तो पाँच इन्द्रियो को मानने की आवश्यकता ही न रहती। फिर तो एक ही इन्द्रिय काफी होती। जब एक रुपये से काम चल सकता हो तो पाँच कौन खर्च करेगा ?

जिसके पास जितनी रकम है वह उतनी ही वस्तु खरीद सकता है। इसी प्रकार जिस जीव को जितनी इन्द्रियाँ प्राप्त हैं, वह उतने ही विषयो का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। नाम-कर्म के द्वारा द्रव्येन्द्रियो का निर्माण होता है। कर्म की विचित्रता के प्रभाव से किसी जीव को एक किसी को दो, किसी को तीन, किसी को चार और किसी को पाँच इन्द्रियाँ प्राप्त होती है। वे जीव प्राप्त इन्द्रियो के अनुसार जानते हैं। अगर एक ही इन्द्रिय सब विषयो को जानती होती तो एकेन्द्रिय और पचेन्द्रिय प्राणी मे कोई अन्तर ही न रहता। जैसे भोजन, पानी और वस्त्र अपना-अपना काम करते है, पानी से क्षुधा की निवृत्ति नही होती, वस्त्र से प्यास नही बुझती, उसी प्रकार एक इन्द्रिय से दूसरी इन्द्रियो का काम नही लिया जा सकता। किसी भी भौतिक पदार्थ को लीजिए, उससे सब काम नही हो सकते। प्रत्येक पदार्थ अपना-अपना काम करता है।

कुछ लोग ऐसे अतिप्रत्यक्षवादी है जो सभी विषयों को प्रत्यक्ष से देखना चाहते है और जिसे प्रत्यक्ष से नही देख सकते, उसका अस्तित्व मानने से इन्कार कर देते है। उनके कथनानुसार एकमात्र प्रत्यक्ष ही प्रमाण है और प्रत्यक्ष मे भी सिर्फ इन्द्रिय प्रत्यक्ष प्रमाण है। अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष की सत्ता को वे स्वीकार नही करते। मगर गहराई से विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रकार का आग्रह दुराग्रह मात्र है और बडी धृष्टता है।

कितने आश्चर्य की बात है कि ऐसे लोग धर्म को भी आँखो से देखना चाहते है। आँखो से देखे विना आत्मा को, परमात्मा को और धर्म को भी नही मानते। स्वर्ग, नरक आदि को भी स्वीकार नही करते। किन्तु किसी भी पदार्थ का अस्तित्व लोगो की इच्छा पर निर्भर नही है। अगर कोई वस्तु है तो हमारे मानने के कारण नही है, वह अपने-आप से है। हम मानेंगे तो भी होगी और न मानेंगे तब भी होगी। हमारे न मानने से उसका अभाव नही हो जाएगा। अतएव जब स्वर्ग और नरक है तो किसी के नट जाने से उनकी नास्ति नही हो सकती। वल्कि सत् पदार्थ को भी असत् मानने के मिथ्यात्व के कारण उन्हे नरक की यातनाएँ सहन करनी पडेगी। तब पता चल जाएगा कि नरक कैसा होता है!

जो नास्तिक है और स्वर्ग-नरक के अस्तित्व पर विश्वास करता है, वह कभी घाटे मे रहने वाला नहीं। वह नरक से बचने के लिए पापो से दूर रहेगा तो उसका इहजीवन पवित्र और उच्च बनेगा और परलोक मे भी उसे सुख ही मिलेगा। इस प्रकार स्वर्ग-नरक तथा पुण्य-पाप और उनके फल को स्वीकार करने मे ही लाभ है और स्वीकार न करने मे एकान्त हानि ही हानि है।

राजा प्रदेशी भी आत्मा को प्रत्यक्ष देखना चाहता था। आत्मा को देखने के लिए उसने एक आदमी को बीच से लकडी की तरह चिरवाया। दोनो फाडो को गौर से देखा। जब आत्मा दिखाई न दिया तो फिर उसके कई टुकडे करवाए। फिर भी आत्मा न दिखलाई दी। तब उसने समझ लिया कि आत्मा का अस्तित्व नही है। उसने यही घटना केशी स्वामी के सामने तर्क के रूप मे पेश की। मगर केशी स्वामी कहाँ ऐसी पोची दलीलो के झाँसे मे आने

वाले थे। वे चार ज्ञानो के धारक महाप्राज्ञ विद्वान् और तार्किक थे। उन्होने उत्तर दिया—राजन्, तुम बडे ही मूढ मालूम होते हो।

इसके पश्चात् उन्होने लकडहारो का एक दृष्टान्त दिया। उमे अरणि नामक काष्ठ से अग्नि प्रज्वलित करके भोजन बनाना था। पर वह मूर्ख लकडहारा अरणि को उलट-पलट कर उसमे आग देखने लगा। न दीखी तो उसके टुकडे करके देखे। मगर यो आग दिखाई देने वाली नही थी। आखिर एक समझदार आदमी ने आकर विधिपूर्वक काष्ठमथन किया और अग्नि प्रज्वलित हो गई।

तात्पर्य यह है कि जैसे अरणि नामक लकडी मे अग्नि विद्यमान होने पर भी आँखो से दिखाई नही देती, उसी प्रकार शरीर मे आत्मा मौजूद होने पर भी दिखाई नही देती। आग रूपी होने पर भी नही दीखती तो आत्मा के दृष्टिगोचर होने की क्या सभावना हो सकती है, जिसमे रूप ही नही है। इस प्रकार केशी महाराज के समझाने पर राजा प्रदेशी तो समझ गया, मगर आजकल के प्रदेशी, जो इन्द्रियो के पुजारी है, समझना नही चाहते। ऐसे लोगो की धारणा होती है कि —

हत्थागया इमे कामा, कालिया जे अणागया।
को जाणइ परे लोए, अत्थि वा नत्थि वा पुणो॥

अर्थात् इन्द्रियो के कामभोग तो मुझे प्राप्त है, मेरे अधिकार मे आ चुके है, अगले जन्म के सुखो का क्या भरोसा है। कौन जाने अगला जन्म होगा भी या नही होगा। नही होगा तो यह भी जाएँगे और भविष्य वाले तो गये हुए ही है। अतएव इन प्राप्त भोगो को भोग लेना चाहिए, अन्यथा प्रकृति की सृष्टि की अवज्ञा होगी। परमात्मा का अपमान होगा। परमात्मा ने यह कामभोग हमारे भोग के लिए ही बनाए है।

इस तरह वे लोग अपना मतलब गाठने के लिए परमात्मा को भी मान लेते है। मगर यह पागल जैसा प्रलाप है। जैसा बच्चा पूर्वापर का भान भूल कर अटसट बोलता है, उसी प्रकार वे लोग भी असबद्ध भाषण करते है। वे बाल-अज्ञानी जीव है। उम्र परिपक्व होने पर भी जिन्हे आत्मा का भान नही है, शास्त्रकार उन्हे बालजीव ही मानते है। वे ज्ञान मे बाल है।

अज्ञानी दुनिया के प्राप्त भोगो का लाभ उठाना चाहते हैं। प्राप्त सम्पत्ति और सुख का भोग करना चाहते है। प्राप्त को छोड़ कर अप्राप्त सुख के लिए आयबिल—तपस्या आदि करना किसने सिखलाया! किसने देखा है परलोक! कौन देख कर आया है? न किसी ने वहाँ कागज भेजा है और न किसी के पास कागज आया है! यह तो बिना पते का पार्सल करना है! गोद के बच्चे को छोड कर पेट के बच्चे की आशा करना जैसे बुद्धिमत्ता नही है, उसी प्रकार प्राप्त सुख को त्याग कर भविष्य के सुख की आकांक्षा करना भी बुद्धिमत्ता नही है।

मूर्ख को सब मूर्ख ही नजर आते है। जिसे पीलिया रोग हो गया है, उसे सब पीले ही पीले दिखलाई देते है। सभी रग उसके लिए पीले हैं। मगर उसे एक ही रग दिखाई देने से अन्य रगो का अस्तित्व नही मिट सकता।

अगर पीलिया के रोगी को दूसरे रग दिखाई नही देते तो यह रगो का दोष नही, उसकी आँखो का ही दोष है। काला शीशा आँखो के सामने रक्खोगे तो सब पदार्थ काले दीखेंगे। यथा दृष्टि तथा सृष्टि। इस प्रकार बाह्यदृष्टि-द्रव्यनेत्रो मे विकार आ जाने से जैसे बाह्य पदार्थ अन्यथा दृष्टिगोचर होने लगते है, उसी प्रकार-

आन्तरिक दृष्टि—धारणा या श्रद्धा दूषित होने से मिथ्यात्वी को सब विपरीत ही विपरीत दिखाई देता है।

श्रीमद्भगवती सूत्र मे प्रश्नोत्तर आये है। गौतम स्वामी प्रश्न करते है–प्रभो! मायी मिथ्यादृष्टि भावितात्मा अनगार, जिसे लब्धियाँ प्राप्त है, विक्रिया करके नगर, उपवन आदि बनाता है क्या?

भगवान् ने इस प्रश्न के उत्तर मे कहा—हाँ, बनाता है।

पुन प्रश्न किया गया—राजगृही मे रहता हुआ वाणारसी नगरी बनाता है?

भगवान् कहते है—हाँ, जो कुछ बनारस मे है, सब हूबहू बनाता है, मनुष्य, पशु, पक्षी, मकान, हाट आदि ज्यो का त्यो बनाता है। वह मायी मिथ्यादृष्टि अनगार उस नाना प्रकार की विकुर्वणा को उसी रूप मे देखता है या अन्यथा रूप मे? इस प्रश्न का भगवान् ने उत्तर दिया है—अन्यथा रूप से देखता है। विकुर्वणा बनारस की है और देखता है राजगृही को। दोनो के नक्शे जुदा-जुदा है। वह बनारस के नक्शे को राजगृही का नक्शा समझता है और इस प्रकार उल्टा ही देखता है।

प्रश्न हो सकता है कि वह उल्टा क्यो देखता है? इस उलट-फेर का क्या कारण है? इसका उत्तर यही है कि मिथ्यात्व के कारण उसका ज्ञान विपरीत हो रहा है। उसका उपयोग समीचीन नही है।

कोई बुद्धिमान् पुरुष मदिरापान कर लेता है तो नशे मे सब काम करता हुआ भी भान भूला हुआ होता है। इसी प्रकार भावितात्मा

अनगार शक्तिसम्पन्न होता हुआ भी मिथ्यात्व के कारण उल्टा देखता है। यह मिथ्यात्व का ही प्रताप है।

ऐसा अनगार दोनो नगरियो के बीच मे जनपद भी बना सकता है, पर ज्ञान उसका विपरीत ही होता है।

मिथ्यात्व के उदय से धारणा विपरीत हो जाती है। उस समय भी पदार्थ तो अपने-अपने रूप मे ही रहते है, उनका स्वरूप बदल नही जाता, मगर देखने वाले की दृष्टि बदल जाती है। इस प्रकार विकार पदार्थ मे नही, दृष्टि मे आता है।

जब दृष्टि मे परिवर्त्तन होता है, अर्थात् दृष्टि मिथ्या से सम्यक् बन जाती है तब पदार्थों का स्वरूप यथार्थ नज़र आने लगता है। विभगज्ञान अवधिज्ञान बन जाता है।

सज्जनो ! वास्तव मे मिथ्यात्व का नशा बड़ा विलक्षण है। इसके समान तीव्र नशा और कोई नही। यह नशा जब चढता है तो मनुष्य सारी सृष्टि को विपरीत रूप मे ही देखने लगता है और अपने आप को भी भूल जाता है। समझता है कि मैं पाँच भूतो के पिण्ड के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नही हूँ। जल मे बुलबुले की तरह उत्पन्न हुआ हूँ और हवा का हल्का-सा आघात लगते ही सदा के लिए समाप्त हो जाऊँगा। मेरी त्रैकालिक सत्ता नही है। कितनी बडी मूर्खता ! कितना घोर अज्ञान !

अपढ किसान भी अपने भविष्य का विचार करता है। वह जानता है कि आज उसके पास जो है, वह खेती करने से उपजा है। इस सारी उपज को अगर खालूंगा और बोने के लिए कुछ नही रखूगा तो आगे बडी दुर्दशा होगी। भविष्य मे कुछ नही पा सकूंगा।

ऐसा सोच कर किसान भले ही आधा पेट खाए पर बीज अवश्य बचा लेता है और उसे बोकर कई गुना पाता है।

इसी प्रकार सम्यक् दृष्टि मनुष्य जानता है कि आज मुझे जो सुख-सुविधाएँ मिली हैं, वह सब पूर्वजन्म के पुण्य की खेती का फल है। उस पुण्य को अगर इसी जीवन मे पूरी तरह खत्म कर दिया और भविष्य के लिए बचा कर न रक्खा या नया उपार्जन न किया तो भविष्य बडा ही भयावह हो जाएगा ! ऐसा सोच कर वह पूर्वोपार्जित पुण्य का उपभोग करता है तो साथ ही नवीन पुण्य का उपार्जन भी करता है और अपने भविष्य को उज्ज्वल एव मगलमय भी बनाता है ।

इस प्रकार एक किसान भी जिस तथ्य को समझता है, उसे पढे-लिखे कहलाने वाले बहिरात्मा नही समझ पाते। यह मिथ्यात्व का ही फल है।

विवेकवान् पुरुष वही है जो भविष्य को नही भूलता। भले आदमी, इस समय तेरे पास करोडो की पूजी है, उसे बिना सोचे-समझे उडा दोगे तो दिवाला निकल जाने पर क्या करोगे ? कॉटा लगने के पूर्व ही सावधानी रखनी चाहिए।

ज्ञानी पुरुष का कथन है कि वर्त्तमान को ध्यान मे अवश्य रक्खो, वर्त्तमान पर विशेष लक्ष्य रक्खो, परन्तु दूर की तरफ से आँख न मीच लो ।

भविष्य को सुधारने का सर्वोत्तम मार्ग वर्त्तमान को सुधारना है। अगर आपका वर्त्तमान जीवन पवित्र है और धर्ममय है तो आपका भविष्य भी उज्ज्वल है।

साढे तीन हाथ भूमि देखकर चलने की मर्यादा है, ऐसा शास्त्रीय विधान है। मगर कभी-कभी लम्बा भी देखना पडता है कि कही मोटर ताँगा आदि तो नही आ रहा है। इस प्रकार मुख्यता तो पास की है पर आगे-पीछे भी देखना चाहिए। अपनी पूर्व स्थिति का भी विचार रखना चाहिए और पश्चाद्वर्त्ती स्थिति का भी खयाल करना चाहिए।

अज्ञानी और ज्ञानी मे यही अन्तर है। अज्ञानी सिर्फ वर्त्तमान को देखना है और उसे भी विकृत दृष्टि मे देखता है। भविष्य पर उसकी दृष्टि नही होती, इस कारण वह वर्त्तमान को विगाड लेता है और वर्त्तमान को विगाड़ लेने से भविष्य आप ही आप विगड जाता है। ज्ञानी वर्त्तमान को सुधारता है, क्योकि उसकी नजर भविष्य पर भी रहती है। इस थोडे से भेद का परिणाम वहुत व्यापक होता है।

गोद के वालक का भी ध्यान रखना चाहिए और पेट के वच्चे का भी ध्यान रखना चाहिए। पेट के वालक की उपेक्षा की जाएगी तो गोद मे वालक कैसे आएगा ?

मगर नास्तिक लोगो की विषय-लम्पटता इतनी तीव्र हो जाती है कि वे भविष्य की ओर से आँखे वँद कर लेते है और इस कारण उनका वर्त्तमान भी वहुत विकृत वन जाता है।

पजाव प्रान्त के एक गाँव मे एक सिख था, जो पुण्य-पाप को नही मानता था। मैं ने उससे प्रश्न किया—किसी भूखे को जिमाने से क्या होता है, अर्थात पुण्य होता या नही ?

उसने अपनी तार्किकता का परिचय देते हुए कहा—जिमाने वाले को पुण्य नही, खाने वाले को पुण्य हुआ।

तव मैंने कहा—कुछ भी सही, गनीमत है कि पुण्य का अस्तित्व तो स्वीकार किया ।

एक सूमडी बाई ऐसी थी जो न स्वय खाती और न दूसरो को खिलाती थी । उसके घर अचानक एक स्वामी जी भिक्षा के लिए पहुँच गये । उसने उनसे कहा - स्वामी जी, दूसरा घर देखो ।

साधु तो वही है जो मान-अपमान को समभाव से सहन करता है । शास्त्रो मे भी कहा है—

समो निंदापससासु, समो माणावमाणओ ।

साधु समभाव के शीतल सरोवर मे किलोले करने वाला राजहस है । वह याचना परीषह का सहन करता है । फिर भी कुछ नवीन साधु याचना करने मे शर्माते हे, क्योकि—

मॉंगन गये सो मर गये, मरै सो मॉगन जाय ।
सव से पहले वे मरे जो होते ही नट जाय ॥

याचना करने मे अपमान सहन करना पडता है । कई गृहणियाँ तो यहाँ तक कह देती है कि कमाना नही आता, अतएव मॉगने का धधा चालू किया है ।

कभी-कभी खपा तो कभी-कभी गालियाँ मिलती है । मगर गालियाँ सहन करने मे मजा है । गाली सहन करने से घर वसता है । लडके की शादी होती हे तो उसे कितनी ही गालियाँ सहन करनी पडती है । वह चू तक नही करता । उसके वाप को भी गालियाँ मिलती है, पर वह शान्त रहता है, कोई प्रसन्न भी होता है । लडका या वाप गर्म हो जाय तो वधू हाथ से जाए । इस प्रकार जव हाड-मॉंस आदि की पुतली को प्राप्त करने के लिए भी गालियाँ

खानी पड़ती है तो जो अनन्त और शाश्वत सुख देने वाली है, उस शिव-रमणी से नाता जोडने के लिए कितनी गालियाँ न सहनी चाहिएँ ?

> रज्ज व जरना खूव है, जो टुक जारी जाय।
> वीद वहू के कारणे, केती गारी खाय ॥

पौष्टिक पदार्थ खाने से ताकत आती है पर निर्वल आदमी उसे पचा नही सकता। वचन रूपी तीरो को सहन करना वडा कठिन है। शास्त्रकार कहते है—

> सक्का सहेउ आसाइ कटया,
> अओमया उच्छहया नरेण।
> अणासए जो उ सहिज्ज कटए,
> वईमए कन्नसरे स पुज्जो ॥

—दशवै० अ० ९—३

अर्थात्—लोभ-लालच के कारण मनुष्य उत्साह के साथ लोहमय कण्टको को भी सहन कर लेता है, परन्तु विना किसी स्वार्थ के जो महात्मा कानो मे तीर की तरह चुभने वाले वचनमय कॉटो को सहन कर लेता है, वही वास्तव मे पूजनीय होता है।

लोहे के काटो और वचन के काटो मे कितना अन्तर है, यह वतलाते हुए कहा गया है—

> मुहुत्तदुक्खा उ हवति कटया,
> अओमया ते वि तओ सुउद्दरा।
> वाया दुरुत्ताणि दुरुद्दराणि,
> वेराणुवधीणि महब्भयाणि ॥

—दश०, अ ९, उ ३

लोहे के काँटे थोडे समय तक कष्ट देते है और निकालने पर सरलता के साथ निकाले जा सकते है। परन्तु वचन के काँटे वडी कठिनाई से निकलते है। वे हृदय मे वडा गहरा घाव करते हैं। वैर की परम्परा को जन्म देते है और महान् भय के कारण होते है।

फिर भी इन वचन-कटको को—गाली आदि को जो समभाव से सहन कर लेता है और चित्त मे लेशमात्र भी कलुषभाव नही आने देता, अपशब्दो को सहन करना अपना धर्म समझता है, वही शूरवीर नररत्न है।

सज्जनो! सयम का मार्ग अत्यन्त दुर्गम है। साधु के पथ मे अनेक कष्ट आते है और उन कष्टो को पूर्ण समभाव से सहना होता है। रो-रो कर सहन करना साधु का धर्म नही है। जब मृगापुत्र राजकुमार दीक्षा लेने को तत्पर हुआ तो उसके माता-पिता ने उसे समझाया—साधु धर्म खीर का कौर नही है कि मज़े से गटक गये। इसका पालन करना मेरु पर्वत को तराजू पर तोलना है, वायु को बोरे मे भरना है, लोहे के चने चवाना है और बालू का कवल है। इन शब्दो से साधुमार्ग की कठिनाइयो का आभास मिल सकता है।

'कभी घी घणा और कभी मुट्ठी चणा' यह दोनो बाते साधु-जीवन मे घटित होती रहती है।

आत्मज्ञान रूपी लक्ष्मी सहज मे नही मिलती। वह दामो से भी नही खरीदी जा सकती। हाव-भाव से वह रीझती नही है। वह तो सिर देने से मिलती है। उसे प्राप्त करने के लिए तन-मन की बाजी लगानी पडती है।

हाड-मास के प्रेम मे पड जाने वाला भी माता-पिता को छोड देता है। एलायची कुमार वडे साहूकार का बेटा था। वह नवयुवती

नटी का नृत्य देखकर उसके मोह मे पड़ गया। नटी के साथ शादी करने के लिए विकल हो उठा, माता-पिता ने बहुत समझाया पर न माना। वह उस नटी के पीछे पागल हो गया—

भूख न देखे सालना, ठाम न देखे मेह।
नीद न देखे साथरा, जाति न देखे नेह॥

भूख शाक नही देखती और नीद बिछौना नही मांगती। जहाँ प्रेम का प्रादुर्भाव हो जाता है वहाँ जात-पांत का विचार नही रहता।

कहाँ एलायची का ऊँचा और सम्पन्न कुल तथा कहाँ खेल दिखाकर दर्शको का मनोरजन करने वाली नटी! माता-पिता ने उसे बहुत समझाया, अच्छी से अच्छी कुलीन कन्याओ के साथ विवाह कर देने का आश्वासन दिया, मगर एलायची कुमार न माना। तब विवश होकर उसका पिता नटिनी के पिता के पास गया और उसकी कन्या की मंगनी की। उसने उत्तर मे कहा—सेठ जी, लडकी का विवाह तो करना ही होता है। मुझे भी करना है। परन्तु करूँगा उसी के साथ जो घरजमाई बनकर रहेगा, हमारे साथ रह कर, हमारी कला सीखकर जो हमारा धन्धा करेगा।

बडी कठिन शर्त थी, पर प्रेम पागल होता है। कामवासना मनुष्य के विवेक को नष्ट कर देती है। एलायची कुमार ने नट की शर्त स्वीकार कर ली। उसने कहा—किसी भी मूल्य पर मैं इस कन्या से विवाह करना चाहता हूँ। इससे विवाह न होगा तो प्राण त्याग कर दूँगा।

जब कोई भी मार्ग न रहा तो लाचार होकर सेठ ने एलायची कुमार का नट के दल के साथ भेज दिया। कुमार हार्दिक लगन के

साथ नट-विद्या सीखने लगा। थोडे ही दिनो मे वह उसमे पारगत भी हो गया।

एक बार किसी नगर मे राजा के सामने नट-विद्या का प्रदर्शन हो रहा था। एलायची कुमार के चिर-अभीष्ट की प्राप्ति आज के खेल पर अवलम्बित थी। यदि राजा उसके प्रदर्शन की सराहना कर दे तो कुमार को नटिनी मिल जाएगी, अन्यथा पुन प्रतीक्षा करनी होगी।

ऐसा निर्णय हो जाने के कारण कुमार प्राण हथेली पर रख कर अपना कौशल प्रदर्शित कर रहा था। मगर कुमार का भाग्य कुछ और ही सृष्टि रच रहा था।

नटिनी अत्यन्त सुन्दरी थी और उसके अग-अग से रूप-लावण्य फूट रहा था। राजा की दृष्टि उस पर पडी तो वह भी उस पर मुग्ध हो गया। राजा के मन मे कुमार के लिए कुविचार उत्पन्न हुआ। सोचने लगा, यदि यह नटकुमार गिरकर मर जाय तो नटयुवती को मैं अपनी अर्धांगिनी बना लूँ। ऐसा सोचकर राजा ने कुमार के प्रशसनीय प्रदर्शन-कौशल की भी सराहना न की।

कुमार वास पर चढा अपना विस्मयजनक खेल दिखला रहा था कि उसी समय एक मुनि आहार के लिए नगरी मे आये। वे पडौस मे एक देवी से आहार लेते है। वहराने वाली देवी अत्यन्त रूपवती है। उसका सौन्दर्य नैसर्गिक था, आजकल की तरह पाउडर लगाकर सौन्दर्य का कुरुचिपूर्ण भद्दा प्रदर्शन नही था। आज की अनेक महिलाएँ अपने चेहरे पर जब पाउडर पोत लेती है तो डाकिन सी दिखाई देती हैं। ऊपर का यह दिखावा आन्तरिक दरिद्रता का

सूचक है। जो अपने जीवन को सयममय रखता है, जिसके हृदय मे सदा सात्विक एव सौम्य विचार रहते है और जिसका आहार-विहार सात्विक होता है, उसका चेहरा सहज सौम्य और आकर्षक हो जाता है। उसे बनावट और दिखावट की परवाह नहीं होती।

तो मुनि को आहार बहराने वाली बाई मे अनुपम नैसर्गिक सौन्दर्य था। किन्तु जितेन्द्रिय मुनि की दृष्टि नीचे की ओर थी। वह उसकी ओर आँख उठाकर भी नही देख रहे थे।

इधर नट बास पर अपना नाटक दिखला रहा है, दूसरी तरफ राजा की मनोभावना का नाटक चल रहा है और तीसरी तरफ मुनिराज की दिव्य और पवित्र भावना का नाटक हो रहा है।

दुनिया के लोग विषय-विकार-वर्धक नाटक देखते है और पैसे खर्च करके पाप उपार्जन करते हैं, परन्तु ज्ञानी जन ससार की इन विचित्रताओ का नाटक देखते है।

अकस्मात् पटपरिवर्तन हुआ और दृश्य बदल गया। राजा की दृष्टि सहसा मुनिराज पर पड गई। उसने देखा—एक युवक साधु अनिंद्य सुन्दरी युवती की ओर आँख उठा कर भी नहीं देख रहा है। धन्य है यह वीतराग तपोधन!

नट ने भी मुनि की ओर देखा और उसकी भी भावना पलट गई। स्थिति का परिपाक होते ही भीतर रहे हुए सस्कार ऊपर उभर आये। उसे बोध प्राप्त हो गया और खयाल आया—अहा, मैं कैसा अधम जीव हूँ जो मोह से ग्रस्त होकर इस स्थिति मे आ पहुँचा। मैंने एक नटिनी के लिये माता पिता और कुटुम्ब-परिवार का परित्याग कर दिया। कुल की मर्यादा का भी खयाल न रक्खा। माता-पिता

के चित्त को क्लेश पहुँचाया। हाय! वासना के वशीभूत होकर मैंने अपना जीवन नष्ट कर दिया।

इस प्रकार पाप का नाटक धर्म के रूप मे परिणत हो गया। अनुराग का स्थान विराग ने ग्रहण किया। भावना क्रमश उच्च और उच्चतर होती गई और उसी समय एलायची कमार केवल-ज्ञान-दर्शन के स्वामी बन गये।

आप कह सकते है कि यह केवलज्ञान तो बडा सस्ता और मुलभ है। पर ऐसी बात नही है। उतनी उत्कृष्ट भावना आना सरल नही है। बिजली का फिटिंग करने मे देर लगती है, मगर बटन दबाने और प्रकाश होने मे कुछ भी देर नही लगती।

एलायची कुमार ने पूर्वजन्म मे बहुत साधना की थी। उसकी पर्याप्त तैयारी पहले ही हो चुकी थी।

साधारण लोग समझते है कि मनुष्य जन्म लेता है तो नये सिरे से सारी सृष्टि रचता है। परन्तु ज्ञानी जन जानते है कि प्रत्येक जीव अतीतकालीन सस्कार—कर्म लेकर ही आता है और उन्ही के अनुसार उसका वर्त्तमान जीवन बनता है।

कर्मो की गति इतनी विचित्र है कि परिणामो के चढते भी देर नही लगती और गिरते भी देर नही लगती।

तो जिस प्रकार मृगापुत्र को वैराग्य हो गया था, उसी प्रकार एलायची कुमार भी विरक्त होकर केवललक्ष्मी के स्वामी बने। यह लक्ष्मी ऐसी है कि एक बार प्राप्त होने पर फिर कभी नही बिछुडती। मगर इस लक्ष्मी को सच्चा आत्मवादी ही प्राप्त कर सकता है। भोगलोलुप अनात्मवादी इसे नही पा सकते। आत्मवादी के हृदय से यही पुकार उठती रहती है—

मिली तुमको पदवी जो निर्वाण पद की,
कि तुम जैसा मैं भी हुआ चाहता हूँ ।।

आत्मवादी भक्त को धन नही चाहिए, मान नही चाहिए, सन्तान भी नही चाहिए। उसे तो एकमात्र पूर्ण आत्मशान्ति-निर्वाण चाहिए।

जो इस प्रकार उच्च भावना रखते है और प्रभु अरिहन्त की स्तुति मे अपने चित्त को व्याप्त रखते है, उनकी आत्मा पवित्र हो जाती है और वे ससार-सागर को पार कर अनन्त अक्षय सुख के भागी होते है।

राजकोट,
१४-८-५४

———

वर्द्धमान-महावीर

अगर वीर स्वामी हमे न जगाता,
तो दुनिया मे कसे नया रग आता ?
न करता अगर कर्त्तावाद का खडन,
तो पुरुषार्थ का यहाँ किसे ध्यान आता ?
सभी जाति आपस में लड़-लड़ के मरती,
जो न विश्वप्रेम का पाठ पढाता ?
तो भारत मे कैसे नया रग आता,
अगर वीर स्वामी हमे न जगाता ?
मनुष्य ही ईश्वर वने यह न कहता,
तो पापो के दल पे विजय कौन पाता ?
उपस्थित सज्जनो और बहिनो !

आपको विदित है कि कालचक्र निरन्तर घूमता रहता है। जगद्व्यापी जो परिवर्त्तन दृष्टिगोचर होते है उनमे अन्यान्य कारणों के अतिरिक्त काल भी एक महत्त्वपूर्ण कारण है । काल के प्रखर प्रभाव से भी महान् परिवर्त्तन होते रहते है। काल का प्रभाव सजीव और निर्जीव दोनो प्रकार की सृष्टि पर अनिवार्य रूप मे पडता है । यह सत्य है कि काल किसी द्रव्य की सत्ता को विलुप्त नही कर सकता, तथापि वह प्रत्येक द्रव्य को एक अवस्था से दूसरी अवस्था मे पहुँचाता है, अर्थात् पर्यायो मे परिवर्त्तन करता है ।

काल का यह सामर्थ्य अप्रतिहत है, वह किसी भी शक्ति के द्वारा रोका नही जा सकता। काल नवजाति की सामूहिक विचार-धारा की उत्पत्ति मे भी कारण बनता है। समय-समय पर धर्म, नीति, अर्थ और समाज के क्षेत्र मे जो नवीन-नवीन विचार, वाद, सम्प्रदाय या पथ प्रचलित होते है, और पुराने मिटते रहते है, उनका आधार भी प्राय. काल का प्रभाव होता है। कभी-कभी काल का ऐसा चक्र चलता है कि लोगो की श्रद्धा और विचारधारा मे आमूल परि-वर्त्तन हो जाता है। एक काल ऐसा आता है और दूसरे निमित्त भी उसके असर से ऐसे जुट जाते है कि लोगो की धर्मभावना एक-दम गिर जाती है और उनमे अधर्मभाव बढ जाता है। कभी-कभी इससे विपरीत स्थिति भी होती है। कवि ने ठीक ही कहा है—

नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण।

जैसे गाडी के चाक की नेमि ऊपर-नीचे घूमती रहती है, उसी प्रकार काल के प्रभाव से जगत् की स्थिति भी पलटती रहती है।

काल की इस परिवर्त्तनशीलता के आधार पर जैनशास्त्रो मे काल के प्रधान रूप मे दो भेद माने गये हैं—उत्सर्पिणीकाल और अवस-र्पिणीकाल। जिस काल मे मनुष्यो मे बल, वीर्य, सत्व, ओज, परा-क्रम, आयुष्य और धर्मभाव आदि की वृद्धि होती जाती है, वह काल उत्सर्पिणीकाल कहलाता है। यह विकासकाल बढ़ता—बढ़ता जब अपनी चरम सीमा पर जा पहुँचता है, तभी अवनति का चक्र आरभ हो जाता है। तदनन्तर क्रमश अवनति होते-होते चरम सीमा की अवनति जब हो जाती है। अवनति का यह काल अवसर्पिणीकाल कहलाता है।

इस समय जो काल चल रहा है वह अवसर्पिणीकाल है। इसे

प्रारभ हुए वहुत वडा अर्सा हो चुका है । भगवान् ऋषभदेव से भी वहुत पहले इस काल को शुरुआत हो चुकी थी । कहना चाहिए कि लगभग आधा अवसर्पिणीकाल उस समय व्यतीत हो चुका था जव आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव इस भूमि पर अवतीर्ण हुए । आदिनाथ के पश्चात् समय-समय पर अन्य वाईस तीर्थंकर हुए और अन्त मे चरम तीर्थंकर भगवान् महावीर का जन्म हुआ ।

इस सक्षिप्त वक्तव्य से आप समझ सकते है कि भगवान् महावीर के जमाने तक जगत् कितनी अवनत दशा को प्राप्त हो गया होगा । भगवान् जिस समय जन्मे उस समय तक अवसर्पिणी-काल का अधिकाश भाग व्यतीत हो चुका था और थोडा-सा भाग ही शेष रहा था । अतएव अवनति की जडे काफी गहरी पैठ चुकी थी । लोगो की धर्म भावना वहुत विकृत हो चुकी थी । धर्म का नाम भर रह गया था । वास्तव मे सर्वत्र जडक्रियाकाण्ड, पाखड, दभ, आडम्वर और दिखावा ही फैला हुआ था । धर्म के नाम से घोर अधर्म का आचरण किया जा रहा था ।

उस समय त्यागियो—तापसो के वहुसख्यक सम्प्रदाय थे और वे वाहरी तपस्या भी करते थे, परन्तु यह नही समझते थे कि धर्म का वास्तविक स्वरूप क्या है ? सयम का आचरण किस प्रकार करना चाहिए ? धर्म और सयम का लक्ष्य क्या है ? आत्मा के सच्चे कल्याण का मार्ग कौन-सा है ? इस अज्ञान के कारण वे वेचारे देहदमन करते हुए भी वास्तविक चारित्र से वचित थे । कोई आग जला कर उष्णता का कष्ट भोगने मे ही तपस्या समझते थे तो कोई गले के पानी मे डूव कर शीत सहन करना ही तप का आदर्श मान रहे थे । कोई पेडो के फल, फूल, मूल, पत्ते और त्वचा आदि खाकर शरीर निर्वाह करने मे ही आत्मा का परम कल्याण समझते थे ।

तात्पर्य यह है कि वे तापस बहिर्दृष्टि होने के कारण इस प्रकार के द्रव्यतप को ही तप समझे हुए थे और वास्तविक कल्याणमार्ग को पहचानने मे असमर्थ थे।

यह हुई तापसवर्ग की स्थिति। इस वर्ग के अतिरिक्त एक दूसरा वर्ग था पुरोहितो का। यज्ञ-याग कराना इसका प्रधान कर्त्तव्य था। उनके द्वारा कराये जाने वाले यज्ञ अतीव निर्दयतापूर्ण और हिंसामय होते थे। यज्ञो मे न केवल गायो, घोडो आदि पशुओ का ही, वरन् मनुष्यों तक का वलिदान दिया जाता था। वडे वड़े पडित-पुरोहित इस प्रकार के हिंसामय यज्ञो का समर्थन करते थे। प्राणी प्राणरक्षा के लिए लालायित रहते थे। लोग लौकिक अभ्युदय अर्थात् स्वर्ग, राज्य आदि की प्राप्ति के लालच मे फँस कर प्राणियो के प्राणो से होली खेलते थे। इस प्रकार उस समय हिंसा का सार्वत्रिक नाटक हो रहा था। पशुओ का अति करुण क्रन्दन सुन कर लोग प्रसन्न होते थे। इस प्रकार धर्म का स्थान हिंसा ने ग्रहण कर लिया था।

उस अन्धकारपूर्ण युग मे जो विचारशील व्यक्ति थे, वे किसी रक्षक दयालु और तेजस्वी पुरुप के अवतीर्ण होने की कामना कर रहे थे। ऐसा होना स्वाभाविक ही था, क्योकि भूखे-प्यासो का ध्यान भोजन-पानी की तरफ जाता है, रोगी का ध्यान वैद्य और औषध की ओर आकर्पित होता है और अशरण जीव शरणदाता की ओर टकटकी लगाता है। छीक आने वाली हो तो सूर्य की ओर ध्यान जाता है ताकि छीक आसानी से आ जाय। इस प्रकार उस समय के प्राणियो का सकल्प एक ही दिशा मे था कि कोई महापुरुष आवे और हमारी रक्षा करे। उस विकराल काल मे, जव पापो का अन्धकार

सर्वत्र व्याप्त था और अशान्ति की ज्वालाएँ धधक रही थी, जगत् को धर्म का वास्तविक मार्ग प्रदर्शित करने के लिये,जीवो को शान्ति पहुँचाने के लिए, उनके पुण्योदय से, प्राणत नामक दसवे देवलोक से अवतरित हुए भगवान् महावीर ।

भगवान् महावीर ठीक समय पर पधारे । जब रोगी वेदना से कराह रहा हो उस समय वैद्य का आना सार्थक हो सकता है। रोगी के मरने के पश्चात् अगर वैद्य आया तो उसके आने से क्या लाभ है ?

तो भगवान् महावीर उचित समय पर पधारे और उन्होने सर्वप्रथम आत्मिक शक्ति प्राप्त करने के लिए तीव्रतर तपश्चरण किया और सर्वज्ञता प्राप्त की और तत्पश्चात् धर्मतत्त्व का प्रकाशन किया । भगवान् ने दया धर्म का निर्मल स्रोत बहाया । बाह्य क्रिया-काण्ड मे जो मूढता का विष व्याप्त था, उसे पृथक् करके आन्तरिक शुद्धि पर जोर दिया और सर्व का सर्वागीण स्वरूप ससार के समक्ष उपस्थित किया । इस प्रकार भगवान् महावीर ने जगत् का महान् कल्याण किया है । उन्हो ने प्रत्येक क्षेत्र मे अपूर्व क्रान्ति की । नूतन आलोक विकीर्ण किया और भव्य ज्योति के दर्शन कराये ।

भगवान् महावीर देवलोक से मनुष्यभाव मे अवतरित हुए थे । देव अपनी आयु पूर्ण करके तथा भव और स्थिति का क्षय कर के आते है ।

मानवभव एक जकशन के समान है । भूतकाल मे जिन-जिन जीवो ने मुक्ति पाई, जो वर्तमान मे पा रहे है और जो भविष्य मे पाएँगे, वे मनुष्य भव से ही पाएँगे । ऋषि-महर्षि इसी मर्त्यलोक मे आकर उत्कृष्ट धर्मक्रिया करते है । मर्त्यलोक ही आध्यात्मिक विकास के लिए उपयुक्त स्थल है ।

महावीर स्वामी देवलोक से चल कर माता त्रिशला की कुक्षि मे पधारे। उस समय माता को चौदह प्रशस्त स्वप्न दिखाई दिये जो इस प्रकार थे—(१) हाथी (२) वृषभ (३) सिंह (४) अभिषेक (५) पुष्पमाला (६) चन्द्र (७) सूर्य (८) ध्वजा (९) कुंभ (१०) पद्मसरोवर (११) सागर (१२) विमान (१३) रत्नो की राशि (१४) निर्धूम अग्नि।

इन स्वप्नो से माता-पिता को विश्वास हो गया कि यह कोई महान् आत्मा है, क्योंकि यह स्वप्न या तो तीर्थंकर भगवान् के गर्भ मे आने पर उनकी माता को दिखाई देते है या चक्रवर्ती जब गर्भ मे आते है तब उनकी माता को दिखाई देते हैं।

कहावत है—पूत के पैर पालने मे ही ज्ञात हो जाते है। इस का आशय यह है कि कौन बालक भविष्य मे कैसा होगा, इसका अंदाज उसकी चेष्टाओ से शैशव-काल मे ही लग जाता है। परन्तु यह कथन साधारण लौकिक बालको पर ही लागू होता है। तीर्थंकर की आत्मा अनुपम, असाधारण और सर्वोत्कृष्ट पुण्य का उपार्जन कर के आती है, अतएव उनके पुण्य का प्रभाव तत्काल ही प्रकट हो जाता है। वह थोडी देर तक भी छिपा नही रहता। यही कारण है कि माता की कुक्ष मे प्रवेश करते ही तीर्थंकर भगवान् का पुण्यप्रभाव चौदह महास्वप्नो के रूप मे सर्वप्रथम माता पर प्रकट होता है और फिर दूसरे लोगो पर भी प्रकट हो जाता है। इस प्रकार पूत का प्रभाव पालने मे ही अर्थात् माता के पेट रूपी पालने मे ही प्रकट हो जाता है।

कदाचित् कोई पापी जीव गर्भ मे आता है तो माता-पिता के धन और यश का क्षय होता है और पुण्यात्मा के आने से धन,

यश आदि की वृद्धि होती है। जैसे वेल समीपवर्त्ती वृक्ष से लिपट जाती है, परन्तु वृक्ष वेल के पास नही जाता। वेल मे ओघसज्ञा है और उसी ओघसज्ञा से वह वृक्ष का सहारा लेती है। उसमे व्यक्त सज्ञा नही होती। व्यक्त सज्ञा पचेन्द्रिय सज्ञी जीव मे ही पाई जाती है।

कीड़ी भी ओघसज्ञा से प्रेरित होकर ही अपनी इष्ट वस्तु की ओर जाती है। उसमे भी सुप्त चेतना है, सज्ञी जीवो की भाँति जागृत चेतना नही है।

वेल मे आठ प्रकार के ज्ञानोपयोग मे से दो—कुमतिज्ञान और कुश्रुतज्ञान, जिन्हे मति-अज्ञान और श्रुत-अज्ञान भी कहते है, पाये जाते है। चार प्रकार के दर्शनोपयोग मे से अचक्षुदर्शन भी उसमे पाया जाता है। इस प्रकार वेल में अव्यक्त चेतना की सत्ता है। यह न्यूनतम चेतना का अश है और प्रत्येक प्राणी मे उसका सद्भाव रहता है। अगर इतनी सी चेतना भी जीव मे न रहे तो जीव अजीव जड अवस्था को प्राप्त हो जाय।

हाँ, तो जैसे कोई राजकुमारी वर का आश्रय लेती है, उसी प्रकार लता तरुवर का आश्रय लेती है। लता जानती है कि अगर जमीन पर रही तो भेड-वकरियो के भोजन की सामग्री वन जाना पडेगा। मगर वृक्ष का आसरा ले लेने पर भेड-बकरियो का उतना भय नही रहता।

सब नदी-नाले समुद्र की ओर जाते है। उनके लिए किसी ने पथ का निर्माण नही किया है और न कोई करता ही है। कुदरत की प्ररणा ही उन्हे सागर की ओर ले जाती है। कवियो ने कहा है कि समुद्र के सिवाय नदी-नालो के लिए अन्य कोई आश्रय नही है।

अनेक नौकर-चाकर, मुनीम, गुमाश्ते, धनी की ओर बिना बुलाए आते है। पशु-पक्षी जलाशय की ओर स्वत प्रेरित होते है। जलाशय कब उन्हे न्योता देने जाता है?

इसी प्रकार पुण्य का उपार्जन करने वाले भाग्यशाली की तरफ सब सुखसामग्रियाँ स्वयमेव आकर्षित होता रहता है। पुण्य का आकर्षण ही कुछ ऐसा होता है कि उसकी ओर अनायास ही इष्ट पदार्थ खिंचे जाते हैं।

भगवान् जब माता त्रिशला के गर्भ मे आए तो उनके महल मे सब प्रकार की अनुकूलताएँ बढने लगी। धन की वृद्धि हुई, यश की वृद्धि हुई, वैभव की वृद्धि हुई, सुख की वृद्धि हुई, इस प्रकार अभूतपूर्व वृद्धि होने के कारण माता-पिता ने जन्म होने पर उनका नाम 'वर्द्धमान' रक्खा। भगवान् का यह नाम कल्पित नाम नही था—गुणनिष्पन्न नाम था और भगवान् के गुण-प्रभाव को देख कर ही रक्खा गया था। पहले ज़माने मे प्राय इसी प्रकार नाम रक्खे जाते थे।

इसके विपरीत कुछ आत्माएँ ऐसी भी होती है जिनके गर्भ मे आने पर माता-पिता को हर तरह की हानि उठानी पडती है। एक सेठ के यहाँ चार लडके हुए। उनके नामो की कल्पना कर लीजिए—लाला, बाला, काला, धन्ना। ये भी पालने मे आये और इनके लक्षण प्रकट हुए। सब से बड़े लाला जब उदर मे अवतीर्ण हुए तो सेठ का लाखो-करोडो का व्यापार खलास हो गया। यह गुल लाला जी ने खिलाया। व्यापार ही जिसका प्रधान जीविका-साधन हो, उसे उसके समाप्त होने पर कितनी चिन्ता हो सकती है, यह तो भुक्त-भोगी ही जानते है। वह सेठ गहरी चिन्ता मे डूब गया, फिर भी

उसने सोचा—चलो, मेरे पास लाखो की पूँजी मौजूद है। व्यापार न रहने पर भी इस पूँजी के सहारे निर्वाह हो जाएगा।

मगर कुछ दिनो के बाद बाला गर्भ मे पधारे। उनके आने पर जो कुछ लेन-देन था और घर मे जो भी पू जी थी, वह समाप्त हुई।

तत्पश्चात् तीसरे सपूत काला का आगमन हुआ। तब माता-पिता विचार करने लगे—दो के आगमन से धन का नाश हुआ, अब इस तीसरे सपूत के आने मे न जाने क्या फल भोगना पडेगा ! सेठ-सेठानी ऐसा सोच ही रहे थे कि बडी नाजुक परिस्थिति उत्पन्न हो गई। रहने का मकान चला गया और बरतन-भाडे भी बेच देने पडे। कर्जदारो ने कुडकी करवा कर नीलाम करवा दिये।

सेठानी चौथी बार गर्भवती हुई। ऐसे अवसर पर गृहस्थ खुशी मनाया करते है, पर उस सेठ को तनिक भी खुशी नही थी। यही नही, ज्यो-ज्यो प्रसव का समय सन्निकट आता गया, त्यो-त्यो सेठ के प्राण अधिकाधिक सूखने लगे। सेठ की चिन्ता का पार न रहा।

यो तो प्राण दस है परन्तु धन ग्यारहवॉ प्राण है, ऐसा दुनिया के लोग कहते है। वास्तव मे धन गृहस्थ जीवन की अनिवार्य वस्तु है। उसके बिना कोई भी गृहस्थ सुख-चैन मे जीवन यापन नही कर सकता। ससार मे धन की ही प्रतिष्ठा होती है। धनी व्यक्ति भले ही मूढ और पागल ही क्यो न हो होशियार माना जाता है। सब लोग उसकी कृपा के कामी होते है और उसकी चापलूसी करते है। किसी ने ठीक ही कहा है—

कौडी है जिसके पास वह अहले यकीन है,
समझे है उनको वो वडे, नुक्ता नचीन हैं।
खाने को उमदा न्यामतें कपडे महीन है,
कौडी न होवे पास फिर कौडी के तीन है॥

यह धन की महिमा है। वास्तव में धनवान् ही लोक में प्रतिष्ठा के पात्र वनते है और वड़े से वडा गुणवान् भी यदि धन-विहीन है तो उसे कोई टके सेर भी नही पूछता। कहा है—

यस्यास्ति वित्त स नर. कुलीन,
स पण्डित स श्रुतवान् गुणज्ञ।
स एव वक्ता स च दर्शनीय,
सर्वे गुणा काञ्चनमाश्रयन्ति॥

अर्थात्—जिसके पास धन है, वही मनुष्य कुलीन माना जाता है, वही पण्डित, शास्त्रो का ज्ञाता और गुणज्ञ समझा जाता है। वही व्याख्यानपटु है और उसके दर्शन के लिए लोग लालायित रहते है। अधिक कहाँ तक कहा जाय, जहाँ काचन—सोना है, वहाँ सभी गुण आ वसते है। अर्थात् धनी मनुष्य सव गुणो का निधान माना जाता है।

एक तरह से लोगो की यह धारणा सही भी है, क्योंकि धन के विना गार्हस्थिक आवश्यकताओ की पूर्त्ति नही होती। धन के स्थान पर धन ही चाहिए। भोजन-पानी जीवन की अनिवार्य आवश्यक वस्तुएँ है और उनके लिए पैसो की आवश्यकता होती है। किसी कवि ने, सभवतः आर्थिक कठिनाइयो से झुझला कर यहाँ तक कह दिया है—

वुभुक्षितेंर्व्याकरण न भुज्यते,
पिपासितै काव्यरसो न पीयते ।
न छन्दसा क्वापि समुद्धृत कुल,
हिरण्यमेवाश्रय निष्फला गुणा ॥

जब भूख के कारण पेट कुडमुडाता है तो व्याकरण के सूत्रो से उसकी तृप्ति नही हो सकती । व्याकरण शास्त्र शब्दो की समीचीनता-असमीचीनता का बोध करा सकता है, परन्तु पेट की ज्वाला शान्त नही कर सकता । पेट भरने के लिए अन्न चाहिए और अन्न के लिए धन चाहिए ।

जब मनुष्य को प्यास सताती है तो काव्य के मधुर रस का पान करने से काम नही चलता । इसी प्रकार छन्दशास्त्र के प्रखर पाण्डित्य से ही किसी के कुल का उद्धार नही हो सकता ।

इतना कहने के बाद अन्त मे कवि कहता है—इसलिए चाँदी-सोने का अर्थात् धन का ही सचय करना चाहिए । गुण बेकार है ।

कवि के इस कथन से कोई पूरी तरह सहमत हो या न हो, तथापि गृहस्थजीवन मे धन की आवश्यकता तो होती ही है, इस तथ्य को अस्वीकार नही किया जा सकता । धन का अभाव होते ही उस सेठ की प्रतिष्ठा धूल मे मिल गई । पहले जो लोग उसका आदर करते थे, वही निरादर करने लगे ।

हाँ, साधुजीवन ऐसा है जिसमे धन की आवश्यकता नही । वह धन से कलकित होता है और अकिंचनता से शोभित होता है । साधु के समक्ष त्याग की ही कीमत है और त्याग से उच्च कोटि की प्रतिष्ठा प्राप्त होती है । यद्यपि साधु प्रतिष्ठा का इच्छुक नही होता,

तथापि उनका संयमनिष्ठ और तपोमय जीवन स्वतः प्रतिष्ठा का कारण बन जाता है। जैसे धान्य के साथ भूसा अनायास ही प्राप्त हो जाता है उसी प्रकार संयम के साथ मान-सन्मान की भी प्राप्ति हो जाती है।

मान-सन्मान की प्राप्ति साधु की साधना में सहायक नहीं होती, अतएव साधु उसकी अभिलाषा नहीं करता। साधु मान और अपमान को समान भाव से ग्रहण करता है। मान-सन्मान प्राप्त होने पर कदाचित् उसके चित्त में अहंकार का भाव जागृत हो गया तो उसे हानि ही होती है। अतएव साधु मान पाकर हर्षित नहीं होता, बल्कि उसे समभाव से ग्रहण करता है।

तो अकिंचनता साधु का भूषण है और धन गृहस्थ का भूषण है। मगर एक बात ध्यान में रखनी चाहिए और वह यह है कि गृहस्थ की शोभा भी न्यायोपार्जित धन से ही है। जिसमें सामाजिक और धार्मिक मर्यादाओं का भंग होता है, किसी जीव को कष्ट उठाना पड़ता है या जिस से जगत् में अनैतिकता की वृद्धि होती है, ऐसे किसी उपाय से धनोपार्जन करना अन्यायपूर्ण है। कई लोग मांस-मदिरा आदि का ठेका लेकर धन कमाते है, पर यह अन्याय और अधर्म की कमाई अधिक दिन नहीं ठहरती। कहा है—

अन्यायोपार्जितं वित्तं, दशवर्षाणि तिष्ठति।
प्राप्ते त्वेकादशे वर्षे, समूलं हि विनश्यति॥

अर्थात्—अन्याय और अनीति से कमाया हुआ धन अधिक से अधिक दश वर्ष तक ठहरता है। ग्यारहवां वर्ष लगते ही वह मूल पूँजी को साथ लेकर चला जाता है।

कपडे मे डाली आग कदाचित् टिक जाय पर अन्याय का धन नही टिक सकता, जब ऐसा धन आ जाता है तो उसके जाने के मार्ग भी उसी समय तैयार हो जाते है। मुकदमा लग जाता है अथवा बीमारी लग जाती है। उस धन को या तो हाकिम खाता है या हकीम खाता है। अतएव गृहस्थ की शोभा न्यायपूर्वक उपार्जित धन से ही होती है।

नीतिकारो का कथन है कि घर की शोभा धन और वनियानी मे है। सुशीला स्त्री घर की शोभा है। धन के साथ आज्ञाकारिणी और लज्जावती स्त्री हो और वह गृहकार्य मे कुशल हो तो घर आनन्दनिकेतन बन सकता है। अगर घर मे कर्कशा स्त्री हो तो खाया-पीया उत्तम भोजन भी क्लेश के कारण विष बन जाता है। अतएव परिवार मे अच्छी स्त्री का मिलना भी सुख का कारण है।

परिवार मे प्रत्येक व्यक्ति का भाग्य अपना २ काम करता है। हाँ, तो सेठ के तीन पुत्रों ने जन्म लेकर उसे करोडपति से दरिद्र बना दिया। जब चौथे पुत्र के प्रसव का समय समीप आया तो सेठ अतिशय चिन्तित भाव से दाई को बुलाने चला। दाई को पता था कि सेठ के पास धन नही है और इस कारण कोई विशेष भेट या पुरस्कार नही मिल सकता। अतएव जब सेठ ने उस से प्रसूति के लिए घर चलने का कहा तो वह बहाना करके बोली—सेठ जी, मुझे दूसरे के घर जाना है। मै वायदा कर चुकी हूँ। आप कोई दूसरी व्यवस्था कर लीजिए।

बाइयां विवाह के अवसर पर गाना गाती है, परन्तु जिस के यहाँ बतासे मिलने की आशा होती है, उसी के घर गाने जाती है। सब जगह मतलब की दोस्ती दिखाई देती है। मतलब होने पर गधे

को भी बाप बना लिया जाता है। निस्वार्थ मैत्री करने वाले कोई विरले होते है।

मगर सेठ जी को दाई की अनिवार्य आवश्यकता थी, अतएव किसी प्रकार समझा-बुझा कर और प्रलोभन देकर दाई को लाये। यथासमय पुत्र का जन्म हुआ। नाल गाड़ने के लिये गड्हा खोदा तो पीली-पीली मोहरो का एक चरू—बहुत बडा बर्तन निकल पडा।

कोई माया का गुलाम उसे धरती मे दबा कर चला गया होगा। शास्त्र मे कहा है कि शक्रेन्द्र जी के चार लोकपाल देव होते है। उनमे चौथे लोकपाल का नाम वैश्रमण है। लोग नाना स्थलो मे धन गाडते है और समझते है कि किसी को पता नही है। परन्तु वह सब धन वैश्रमण की निगाह मे रहता है। जब तीर्थंकर का जन्म होता है तो वैश्रमण लोकपाल जिस धन का कोई स्वामी नही रहा हो, उसको ला-लाकर जिस घराने मे तीर्थंकर जन्म लेते हैं, भण्डार भर देते है।

सूम का धन और कोडी का कन किसी के काम नही आता। मरने वाले मर जाते है और धन पडा रह जाता है। यह जानते हुए भी कृपण लोग अपने हाथ से उसका सदुपयोग नही करते।

अकस्मात् प्रचुर धन मिलने से सेठ की प्रसन्नता का पार न रहा। उसने सर्वप्रथम अजलि भर मोहरें दाई को दी। आखिर वह कई पीढ़ियो का धनी था अतएव उसका हृदय उदार था। नया साहूकार कोई विरला ही दाता होता है। सेठ ने निस्सकोच भाव से मोहरे इनाम मे दे दी। दाई बोली – नही, सेठ जी, इतना देने की क्या आवश्यकता है?

सेठ ने कहा—कोई बात नही। तुम दूसरा जरूरी काम छोड कर आई हो, ले जाओ।

पुत्र का नाम धन्य (धन्ना) रक्खा गया।

कहने का अभिप्राय यह है कि सिर्फ कमाने अर्थात् परिश्रम करने से ही धन की प्राप्ति नही होती। कई लोग कमाने मे कुशल होते है मगर अन्तराय कर्म के उदय से धन प्राप्त करने मे असफल ही रहते है। हाँ, पूर्वजन्म मे पुण्य का उपार्जन किया हो तो अनायास अथवा अल्प आयास (परिश्रम) से ही प्रचुर धन की प्राप्ति हो जाती है।

तीर्थकर अपने पूर्वजन्म मे सब को साता पहुँचाते है। एक पूर्वजन्म से नही, वरन् अनेक पूर्वजन्मो से तीर्थंकर की आत्मा प्रवुद्ध और जागृत रहती है। जन्म-जन्म के शुभ सस्कारो के फलस्वरूप उन्हे तीर्थकर गोत्र का उदय होता है। यही कारण है कि उन्हे असाधारण ऋद्धि-सिद्धि की प्राप्ति होती है।

भगवान् महावीर जन्म से ही वैरागी थे। ससार मे रहते हुए भी ससार से अलिप्त-से रहते थे। भोगोपभोगो मे वे कभी आसक्त नही हुए। जब २८ वर्ष की अवस्था हुई तो उन्होने दीक्षा ग्रहण करने का विचार किया। परन्तु माता-पिता का स्वर्गवास हुए बहुत दिन नही हुए थे। अतएव उनके ज्येष्ठ भ्राता नन्दिवर्धन ने कहा—बन्धु, माता-पिता के वियोग का दु ख तो अभी तक दूर नही हुआ है और तुम भी मुझे त्याग कर दीक्षा अगीकार करना चाहते हो। मैं इस दु ख को किस प्रकार सहन कर सकूगा ? कम से कम दो वर्ष तक और मेरे साथ रहो, फिर जैसी इच्छा हो सो करना।

निश्चय मे चारित्र का उदय नही आने से और बाह्य कारण के रूप मे बडे भाई का प्रवल अनुरोध करने से भगवान् दो वर्ष तक उदासीन वृत्ति मे घर मे ही रहे।

दो वर्ष बीतते क्या देर लगती है ? वे बीते और दीक्षाकाल परिपक्व हो गया। तब लौकान्तिक देवो ने अपने वियोग को पूर्ण करने के लिए पाँचवे देवलोक से आकर भगवान् से निवेदन किया— भगवन् ! बुज्झह, बुज्झह। प्रभो ! अब आप जगत् का कल्याण कीजिए। सूर्य जब तक बादलो मे छिपा रहता है तब तक अधकार का पूरी तरह नाश नही होता। आज जगत् मे मिथ्यात्व का गहन अधकार व्याप्त हो रहा है, इसे दूर कीजिए।

भगवान् तीर्थंकर स्वय सबुद्ध होते है। लौकान्तिक देवो का आगमन और गृहत्याग के लिए निवेदन तो एक रिवाज मात्र है। भवभवान्तर की तैयारी के पश्चात् तीर्थकर की आत्मा इतनी अधिक प्रबुद्ध होती है कि उसे किसी के उपदेश अथवा अनुरोध की आवश्यकता नही होती। तीर्थकर तीन ज्ञान लेकर आते है। उन्हे मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान नियम से होते है। भूतकाल मे जो तीर्थकर हो चुके है, वर्त्तमान में जो हैं और भविष्यत् काल मे जो होंगे, वे सभी स्वयबुद्ध ही होते है। सभी तीन ज्ञानो से सम्पन्न होते है। अपने ही ज्ञान से वे बोध प्राप्त करते हैं। तीर्थकर भगवान् के अतिरिक्त कोई-कोई अन्य जीव भी स्वयबुद्ध होते है।

कोई-कोई जीव प्रत्येक बुद्ध भी होते हैं। उन्हे बाह्य वस्तु का निमित्त पाकर वैराग्य होता है, जैसे नमिराज ने ककणो का शब्द सुन कर वैराग्य प्राप्त किया था। नमिराज रुग्ण अवस्था मे पड़े थे। उनकी रानियाँ लेप करने के लिए चन्दन घिस रही थी। नमिराज को नीद नही आ रही थी। घर्षण के कारण रानियो के ककण आपस मे टकराते थे और उनमे शब्द हो रहा था। उस शब्द से परेशान होकर नमिराज ने कहा—यह शब्द क्यो हो रहा है ?

रानियो ने समझ लिया—निर्बलता के कारण इन्हे यह आवाज सहन नहीं हो रही है । अतएव उन्होने कंकण उतार दिए, सिर्फ एक-एक ही कंकण हाथ मे रहने दिया । कितनी पतिपरायणा और कुशल थी वे रानियां ! तनिक इशारा ही उनके लिए काफी था !

वह परिवार धन्य है जिसमे पति और पत्नी को एक दूसरे की सुख-सुविधा का ध्यान रहता है । जहाँ पति, पत्नी को सुखी रखने का प्रयत्न करता रहता है और पत्नी, पति के सुख के लिए सदैव सचेष्ट रहती है, वही परिवार गृहस्थी के सुखो का शान्तिपूर्वक उपभोग कर सकता है ।

हाँ, तो उन रानियो ने एक-एक ही कंकण हाथो मे रहने दिया । इससे कोलाहल बंद हो गया । शान्ति हो गई । वातावरण मे निस्तब्धता व्याप गई । नमिराज ने इस शान्ति का कारण पूछा तो रानियो ने कहा—पहले बहुत-से कंकण थे, अतएव उनमे संघर्ष होता था और उसी से आवाज हो रही थी । अब एक-एक कंकण रह जाने से संघर्ष बन्द हो गया है और इसी कारण शान्ति है ।

यह उत्तर सुन कर नमिराज सोचने लगे—
कंकण का शोर सुन कर नमि ने विचारा ऐसा,
न मैं किसी का कोई यहाँ पै नही है मेरा ।
तू एकला ही आया, एकला ही जाएगा तू ।
जब कूच होगा डेरा ॥

वृक्षो पै बैठ पक्षी रजनी गुजारते है,
बिछुडेगे सब ही साथी जब होयगा सवेरा ॥

सज्जनो ! आप लोगो ने अनेक बार बगडियो—चूड़ियो की

आवाज सुनी है, परन्तु नमिराज की तरह उससे कोई बोध नही प्राप्त किया। वास्तव मे बोध वगडियो मे नहीं, आत्मा मे है। बोध का उपादान कारण तो स्वय आत्मा ही है। बोध का अन्तरग कारण क्षयोपशम है।

तो अन्तरग कारण मिलने पर, बिना किसी से उपदेश पाये, बाह्य वस्तु के निमित्त से जिसे बोध की प्राप्ति हो जाती है, वह प्रत्येकबुद्ध कहलाता है। किसी को बैल को देख कर, किसी को स्तंभ को देख कर और किसी को आम्रवृक्ष आदि देख कर बोध प्राप्त हो जाता है। कई लोग जड से बोध होना मानते हैं इसी कारण मूर्त्ति पूजा करते हैं और मूर्त्ति को माथा टेकते है, परन्तु यह कोई एकान्त कारण नही है। जब अन्तरग कारण प्रबल होता है तो कोई भी बाह्य कारण बोध का निमित्त बन जाता है। वह तो 'बाई दी वे' है। चूड़ियो मे बोध देने की शक्ति नही है। होती तो आपको भी कभी का बोध हो गया होता, क्योकि आप सदैव चूडियो की आवाज़ सुनते रहते हैं। वस्तुत. चूडी या उसके समान अन्य बाह्य पदार्थ तो निमित्त मात्र ही हो सकते है।

कई लोग कहते हैं —हमारा इतना पुण्य कहाँ कि हमे साधुपना प्राप्त हो ? परन्तु साधुपन अथवा सयम पुण्योदय का फल नही है। वह तो क्षयोपशम से मिलता है।

आज की स्थिति बडी बेढब है। धर्म के ठेकेदार तो आप बने बैठे है और दीक्षा लेने के लिए दूसरी जाति वाले चाहिएँ! पुण्य का नाम तो टालमटूल करने का बहाना मात्र है। जब न देना हो तो अनेक बहाने बनाये जाते हैं।

एक सेठ बहुत धनी था और साथ ही बड़ा कजूस भी था। उसके विषय मे लोगो ने यह उक्ति चरितार्थ कर रक्खी थी—

लवे चौडे गुदगुदे, गूलर के से गप्पू ।
लेन देन को कुछ नही, वाता के से टप्पू ।

कई लोग ऐस होते है जिन्हे लाभान्तराय का क्षयोपशम होने से धन की प्राप्ति तो हो जाती है,परन्तु भोगोपभोगान्तराय का उदय होने से वे उसका भोग और उपभोग नही कर सकते और दानान्तराय के उदय से दान भी नही दे सकते । कोई-कोई तो ऐसे कजूस होते है कि रोटी का टुकडा तोड कर उसे घी के डिव्वे की तरफ दिखा कर खा लेते है पर क्या मजाल कि डिव्वे मे से अश मात्र भी घी खरच ले । हाँ, तो वह सेठ ऐसे ही कजूसो मे से था। वह दान देना नही चाहता था परन्तु यह भी नही चाहता था कि दूसरे लोग मुझे कजूस कहे या समझे । अतएव उसने दान न देने का एक वढ़िया वहाना खोज निकाला । जव उसके यहाँ कोई याचक पहुँच जाता तो वह उससे कहता –भाई, मेरे यहाँ किसी वस्तु की कमी नही है। पहले खूव दान-पुण्य किया है और उसके कारण ही इतना धन मिला है कि हिसाव करते-करते थक जाता हूँ । आराम से नीद भी नही ले सकता । रात-दिन धन की सार-सँभाल रखनी पडती है। अगर इस जन्म मे दान दूंगा तो आगे भी यही मुसीवत भुगतनी पडेगी । इस कारण मैं ने अभी दान देने का त्याग-सा कर रक्खा है ।

वस्तुत यह टालने का एक वहाना है । इसी प्रकार जो पुण्य की कमी का वहाना वना कर सयम नही लेते, वे उस सेठ की तरह टालने की वात करते है। असल मे ससार के विपयभोग उनसे छूटते नही है और अन्त करण मे विरक्ति का उदय नही हुआ है ।

चरित्रमोहनीय कर्म का क्षयोपशम किया हो तो चारित्र की प्राप्ति होती है । अप्रत्याख्यानावरणकषाय चारित्रमोह के क्षयोपशम

से देशविरति की, प्रत्याख्यानाकरणकषाय चारित्रमोहनीय के क्षयोपशम से सर्वविरति चारित्र की और सम्पूर्ण मोहनीय कर्म के क्षय या उपशम से यथाख्यातचारित्र की प्राप्ति होती है।

पुण्य के उदय से तो मनुष्यभव, दीर्घायु, परिपूर्ण पाँचो इन्द्रियो वाला शरीर, उच्च कुल आदि मिलता है, परन्तु चारित्र तो मोहनीय कर्म के क्षय, उपशम या क्षयोपशम से ही मिल सकता है। क्षयोपशम होने के अनेक वाह्य निमित्त हो सकते है। किसी को कोई निमित्त मिल जाता है और किसी को कोई। निमित्त कारण अनियत होते है। हाँ, उनका मिलना अथवा न मिलना अन्य वात है और उनका वहाना वनाना दूसरी वात है। अन्तरग कारण प्रवल हो तो कोई भी वाह्य पदार्थ निमित्त वन सकता है। अन्तरग कारण ही विद्यमान न हो तो वाह्य पदार्थ वेचारा क्या करेगा। शिक्षक कुशल हो, विद्वान हो, परन्तु शिष्य का क्षयोपशम न हो तो शिक्षक क्या करेगा? शिक्षक ने तो कइयो को विद्वान् वना दिया। जिस मे समझने और अभ्यास करने की निज की शक्ति नही है, उसमे शिक्षक ऊपर से ज्ञान नही घुसेड सकता।

दीवी पण लागी नही, रीते चूल्हे फूक।
गुरु वेचारा क्या करे, चेले माही चूक।

अग्नि थोडी-सी भी हो तो फूक काम करती है। अग्नि विलकुल ही न हो तो जोर की फूक भी क्या कर-सकती है? इसी प्रकार शिष्य की आत्मा मे थोड़ी वहुत जागृति हो तो वह गुरु के उपदेश को पाकर अधिक जागृत हो सकता है।

कहते-कहते मुझे पसीना आ जाता है, फिर भी तुम्हारी चेतना अग्नि प्रचण्ड नही होती मगर मैं निराशावादी नही हूँ, आशा-

वादी हूँ। मैं जानता हूँ कि अक्षर के अनन्तवे भाग चेतना प्रत्येक जीव की उघाडी रहती ही है।

किं करोत्येव पाण्डित्यमस्थाने विनियोजितम्।
अधकारप्रतिच्छन्ने, घटे दीप इव आहितम् ॥

पाण्डित की पण्डिताई क्या करे जब ज्ञान लेने वाला पात्र ही न हो! घडे के ऊपर दीपक रख कर जलाया जाय तो भी घडे मे प्रकाश नही जाता, क्योकि उस पर ढक्कन ढका हुआ है! प्रदीप प्रज्वलित होने पर भी घट के भीतर अधकार बना रहता है। इसी प्रकार आत्मा के ऊपर जबतक मिथ्यात्व का ढक्कन है तबतक उसमे ज्ञान का प्रकाश प्रवेश नही कर सकता। यह जानते हुए भी उपदेशक को निराश नही होना चाहिए। शास्त्र मे पाठ आया है—'उट्ठिएसु वा अणुट्ठिएसु वा।' जो सयम ग्रहण करने के लिए उद्यत है उन्हे भी बोध देना चाहिए और जो उद्यत नही है, उन्हे भी बोध से वचित नही करना चाहिये। जो सुनना चाहते हैं उन्हे और जो नही सुनना चाहते उन्हे भी सुनाना चाहिए। कब किसकी चेतना जागृत हो जाय, कौन कह सकता है? उपदेशक का उपदेश सुन कर और काललब्धि पाकर कोई भी भव्यात्मा अपना कल्याण कर सकता है। प्रत्येक मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता है।

तुम कोई ईंट-पत्थर नही हो कि कुछ न कर सको। तुम्हारे भीतर अनन्त बल है। तुम नर से नारायण बन सकते हो। भगवान् भी पहले भक्त थे। मगर आज के लोग तो पहले ही भगवान् बनना चाहते है। बेटा बनने से पहले ही बाप बनना चाहते है! किन्तु यह कैसे हो सकता है?

भगवान् महावीर ने पहले तपस्या की और बारह वर्ष तक

कठोर तपस्या की। जब सर्वज्ञता प्राप्त हो गई तो अहिंसा भगवती का झण्डा ऊँचा उठाया। जैसे चक्रवर्ती और वासुदेव के पाञ्चजन्य शंख की गंभीर ध्वनि सुन कर शत्रुओं का कलेजा थर्रा उठता है और वे गर्वहीन हो जाते है, उसी प्रकार सर्वज्ञ की वाणी को सुन कर प्रतिवादी निर्मद हो जाते हैं। भगवान् महावीर की दिव्यध्वनि सुनकर हिंसा के पुजारी मैदान छोड कर भाग गये। हिंसात्मक यज्ञों का अन्त हो गया। इससे भारत का घोर कलंक दूर हुआ। भारतवासी इस महान् उपकार के लिए सदैव भगवान् महावीर के प्रति कृतज्ञ रहेंगे।

मगर आज लोग महावीर की महिमा को नही समझते। वह समझे भी कैसे, जब कि उनके अनुयायी जैनी भी उन्हे ठीक तरह नही समझ पाते।

आज जैनो का प्रचार बहुत कम है। मैं तो यहाँ तक देखता हूँ कि तुम मुखियो के लडके भी मुनियो के दर्शनार्थ नही आते। तुम तो पके-पकाये हो, भविष्य लडको के हाथ में है। उनमे धर्मश्रद्धा उत्पन्न न हुई तो संघ का काम किस प्रकार चलेगा ? माता-पिता का कर्त्तव्य है कि वे जैसे स्कूल मे जाने की प्रेरणा करते हैं, उसी प्रकार बच्चो को धर्म की ओर भी प्रेरित करे। अगर बालको के संस्कार न सुधरे और श्रद्धा दृढ न हुई तो साधुओ का चौमासा कराने से क्या लाभ हुआ। आखिर चौमासे का पूरा लाभ तो बच्चो को मुनियो द्वारा कुछ धार्मिक संस्कार दिलवा कर ही उठाया जा सकता है। लडके अगर पच्चक्खाण अर्थात् नियम आदि लेने से डरते हो तो आप उन्हे मेरी ओरसे अभय दीजिए। नियम बलात्कार नही दिया जाता यह तो अपनी इच्छा पर निर्भर है। लडको को सन्तो के समागम मे आना चाहिए और माता-पिता को इसके लिए प्रेरणा देनी चाहिए।

यदि धर्म के प्रति दुर्लक्ष्य होगा और उदासीनता रहेगी तो धर्म का लोप होता जाएगा। भावी सन्तान के कन्धो पर ही धर्म और सघ का भार आने वाला है। उन्होने यह भार न सँभाला तो एक दिन आ सकता है कि यह उपाश्रय खाली नजर आने लगे। अतएव आप लोगो का कर्त्तव्य है कि आज भोजन करने से पहले ही अपने-अपने बच्चो को सतसमागम की प्रेरणा करे।

हाँ, तो भगवान् महावीर अपने पुरुषार्थ से महावीर बने। आप भी अपनी साधना मे महावीर बन सकते हो। भगवान् ने जिस पथ से परमपद प्राप्त किया, वही जगत् को प्रदर्शित किया। उस पर चल कर हम भी उसी पद को प्राप्त कर सकते है। इस महान् उपकार के लिए हमे कृतज्ञतापूर्वक भगवान् के गुणो का गान करना चाहिए। बोलो भगवान् महावीर की जय !

राजकोट
१५—८—५४

———

धर्मश्रद्धा की सुदृढ़ता

अरिहन्त अरिहन्त०।

उपस्थित सज्जनो और देवियो !

व्याख्यान का प्रधान विपय आत्मा है, जो कुछ दिनो से चालू है। आत्मा के सम्वन्ध मे कहते कहते कभी कुछ आनुषगिक विषयो पर भी प्रकाश डालना पडता है तथापि उनका प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से आत्मा के साथ संवध होता ही है। वस्तुत आत्मा का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है और सम्पूर्ण जगत् का उसके साथ सम्वन्व है। इस सम्वन्ध को कुछ अन्यथा रूप मे समझ लेने के कारण भारतवर्ष मे अद्वैत की विचारधारा प्रचलित हुई थी। अद्वैतवादियो का कथन है कि जगत् मे जो असख्य-अनन्त आत्माएँ है, वे वास्तव मे पृथक्-पृथक् नही, वरन् एक ही आत्मा की प्रतिच्छाया हें, एक ही आत्मा के नाना प्रतिविम्व हैं। उस आत्मा को ब्रह्म कहो, परब्रह्म कहो, सत्ता कहो, अथवा किसी दूसरे नाम से कहो, पर मूल मे वस्तु एक ही है।

जव अद्वैतवादियों से कहा जाता है कि यदि आत्मा एक ही है तो भिन्न-भिन्न शरीरो मे भिन्न-भिन्न क्यो दिखाई देती है ? इसके उत्तर मे उनका कथन है कि शरीर रूप उपाधि की भिन्नता के कारण आत्माएँ भिन्न-भिन्न दृष्टिगोचर होती है। इस विषय मे वे एक उदाहरण उपस्थित करते हैं। उनका कहना है कि अगर सौ-पचास

पात्रो मे पानी भर दिया जाय और चन्द्रमा उनमे प्रतिबिम्बित हो तो वह एक होने पर भी अलग-अलग पात्रो मे अलग-अलग दिखाई देता है। इसी प्रकार आत्मा एक होने पर भी अलग-अलग शरीरो मे अलग-अलग प्रतीत होती है।

श्रीमत् सूत्रकृतागमूत्र मे इस मत की मान्यता वतलाते हुए कहा गया है—

जहा य पुढवीथूभे, एगे नाणा हि दीसइ।
एव भो ! कसिणे लोए, विन्नू नाणा हि दीसइ ॥

अर्थात्—जिस प्रकार एक ही पृथिवीपिण्ड नाना रूपो मे दिखाई देता है, उसी प्रकार एक आत्मरूप जगत् नाना रूपो मे दिखाई देता है।

स्मरण रखना चाहिए कि आत्माद्वैतवादी अखिल लोक मे एक ही आत्मा मानने के साथ दूसरी कोई सत्ता स्वीकार नही करते। उनके कथनानुसार आत्मा के अतिरिक्त जड पदार्थो की भी सत्ता नही है। जैसे एक ही पृथिवीसमूह नदी, समुद्र, पर्वत, नगर, आदि-आदि पृथक् रूपो मे दृष्टिगोचर होता है, उसी प्रकार एक आत्मा ही जड-चेतन आदि रूपो मे दिखाई पडती है। यथा—

एक एव हि भूतात्मा, भूते भूते व्यवस्थित ।
एकधा वहुधा चैव, दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥

अर्थात् एक ही आत्मा नाना भूतो के रूप मे स्थित है। वह एक होने पर भी जल मे प्रतिबिम्बित होने वाले चन्द्र के समान नाना रूपो मे दिखाई देती है।

इस कथन के अनुसार सव आत्मा ही एक नही हैं, वरन अखिल जगत् ही एक आत्मस्वरूप है।

परन्तु यह मान्यता अनुभव से बाधित होने के साथ ही युक्ति और प्रमाण से भी सगत सिद्ध नही होती। प्रथम तो चन्द्रमा का उदाहरण ही ठीक नही है। जलपूर्ण नाना पात्रो मे दिखाई देने वाला एक चन्द्रमा सब पात्रो मे एक सरीखा ही दिखाई देता है, विभिन्न आकार-प्रकार का नही। किसी पात्र मे दूज का चन्द्रमा दिखाई दे, किसी मे अष्टमी का और किसी मे पूर्णिमा का, ऐसा नही होता। परन्तु विभिन्न शरीरो मे प्रतीत होने वाली आत्माओं मे इस प्रकार की एकरूपता दृष्टिगोचर नही होती। मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतग आदि अनेकानेक योनियाँ है और उन योनियो मे गत आत्माओ मे बहुत भेद प्रतीत होता है। यह भेद उनके बाह्य रूप रग आदि मे ही नही होता, वरन् चैतन्य की मात्रा के विकास मे भी होता है। ऐसी स्थिति मे चन्द्रमा के उदाहरण से सब आत्माओ का एकत्व कैसे माना जा सकता है ?

इसके अतिरिक्त अगर आत्मा एक ही है तो एक के सुखी होने पर सब को सुखी होना चाहिए और एक के दुखी होने पर सब को दुखी होना चाहिए, अर्थात् सुखी-दुखी का भेद नही रहना चाहिए। यही नही, एक की मृत्यु होने मे सब को मरना चाहिए। और एक के जन्म लेने पर सब का जन्म होना चाहिए। इसी प्रकार एक जीव अगर पापकर्म या पुण्यकर्म करता है तो सब को पाप या पुण्य कर्म का बध क्यो नही होता ? एक की मुक्ति होने पर सब की मुक्ति क्यो नही होती ?

इस प्रकार जब तात्त्विक दृष्टि से विचार करते है तो स्पष्ट मालूम हो जाता है कि आत्माद्वैत का सिद्धान्त किसी प्रकार सगत नही है। वास्तव मे आत्माए अनन्त है और प्रत्येक शरीर मे पृथक्-पृथक् आत्मा है। इसी प्रकार आत्मा के सम्बन्ध मे ससार मे और

भी नाना मत है और वे अपनी-अपनी पुष्टि के लिए अनेक प्रकार के कुहेतु देते है ।

अनन्त हेतु और अनन्त कुहेतु है। पदार्थ के सच्चे रूप का चित्रपट खडा करने वाला या उसके सही रूप का निरूपण करने वाला हेतु होता है। लेकिन वस्तु कुछ और हो और उसे अन्यथा रूप मे सिद्ध करने वाला कुहेतु कहलाता है। अद्वैतवादी अपनी मान्यता को सिद्ध करने के लिए कुहेतु देता है। वह अपने पक्ष की पुष्टि के अभिनिवेश मे सचाई को भूल जाता है।

जव मनुष्य पक्ष मे पड जाता है तो उसे यह भान ही नही रहता कि उसका पक्ष कितना खोटा है। वह अधा होकर उसका समर्थन करता है। उसकी दृष्टि दुराग्रह और पक्षपात के कारण सत्य से विमुख हो जाती है।

कई लोग ऐसे भी होते है, जिनके अन्त करण मे अभिनिवेश, आग्रह अथवा पक्षपात तीव्र नही होता, फिर भी वे वस्तु का गलत रूप ही मानते है। इसका कारण उनका अज्ञान है। उन्हे वोध ही ऐसा मिला और उपदेशक ही ऐसा मिला कि उनकी धारणा विपरीत वन गई। उन वेचारो को न सत्साहित्य मिला और न सच्चापथ प्रदर्शक ही मिला। ऐसे लोगो को जव तक यथार्थ उपदेशक नही मिलता तव तक उनकी श्रद्धा विपरीत ही वनी रहती है। जैसे अनजान पथिक भूल से गलत मार्ग को सही मान लेता है और उस पर चलता चला जाता है, उसी प्रकार वे लोग भी असत्य वस्तुस्वरूप को सत्य मान लेते है और उसी के अनुसार श्रद्धा तथा प्रवृत्ति करते है।

विहार के समय कई वार हमे भी इस प्रकार की कठिनाई का सामना करना पडता है। हम भी कभी भूल के कारण गलत

मार्गको सही मान कर चल देते है । चलते-चलते किसी दूसरे से पूछते हैं और वह सही राह वतलाता है तो भूल सुधार कर उस पर चलने लगते है। वीरमगाम से चल कर हम जव लीवडी आ रहे थे तो रास्ता भूल गए। जव एक वाई ने वतलाया तो ठीक रास्ता पकडा। एक वार नही ऐसे अवसर कई वार आ जाते है, वुद्धिमत्ता इसी मे है कि पूर्व गलत रास्ता जो लिया था, सही रास्त मालूम होने पर उसे छोड सही मार्ग पर चले।

एक मनुष्य ऐसा होता है जो मार्ग को जानता तो नही है पर हठी भी नही है। वह सही राह वतलाने पर उसी पर चलने लगता है। दूसरा अभिनिवेशी होता है। वह सत्य को जान कर भी स्वीकार नही करता । कई लोग २०-२० और २५-२५ वर्ष तक सच्चे मार्ग पर चल कर मिथ्यात्व के उदय से विमुख हो जाते है और सत्यमार्ग को छोड वैठते है।

मिथ्यात्व का उदय होता है तो ज्ञान विपरीत हो जाता है। तपश्चर्या से अनन्त जीवो ने मोक्ष प्राप्त किया है,करते है और करेंगे, यह जानते हुए भी उसे जडक्रिया वतला कर तपश्चर्या का निषेध करते है। यहाँ तक कि तपादि क्रिया को अनन्त ससार-परिभ्रमण का कारण रूप वतलाते है। मोक्षमार्ग को क्रिया को ससार का मार्ग कहते है। पाँच महाव्रतो को भी शुभास्रव-पुण्यरूप होने से ससार का मार्ग वतलाते है। माया के पुजारी, इन्द्रियो के गुलामो ने सुखद पथ निकाला है जिसमे कुछ करना न पडे। वे कहते है—वस आत्मा को पहचानो। मगर आत्मा को कैसे पहचाने! अभी तक क्यो नहीं पहचान पाये ? वे कह सकते है कि आवरण के कारण आत्मस्वरूप नही पहचान पाये। दर्पण पर मैल चढा है, स्याही लगी हुई है। मिट्टी का लेप है। अतएव मुख कैसे दिखलाई दे सकता है ? दर्पण

मे मुख दिखलाने की शक्ति है, मगर जब तक उस पर मलीनता है तब तक मुख दिखलाई नही दे सकता। अतएव अगर मुख देखना है तो दर्पण का मैल दूर करो और फिर मुख देखो। आत्मा मे आत्मा को देखो।

इस प्रकार कहना तो सरल है, मगर प्रश्न यह है कि आत्मा रूपी दर्पण पर आये आवरण को दूर करने के लिए कुछ करना चाहिए या बिना कुछ किये ही वह आवरण दूर हो जाएगा ? मगर वे तो कहते है—नही, कुछ करने की जरूरत नही है, सिर्फ आत्मा को ओलखो ! क्या यह उत्तर आप लोगो की समझ मे आता है ? कुछ भी क्रिया किए बिना आत्मा का आवरण दूर हो सकता है ? अगर ऐसा होता तो सर्वज्ञदेव ने, 'ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्ष' अर्थात् ज्ञान और क्रिया दोनो के समन्वय से ही मोक्ष हो सकता है, ऐसा विधान क्यो किया ? भगवान् ने चारित्र की और तप की आवश्यकता क्यो प्रतिपादित की ? स्वय क्यो तपस्या की ? राजमहल मे बैठे-बैठे आत्मा को क्यो नही पहचान लिया ?

आत्मा को पहचानना ज्ञान है और अकेले ज्ञान से मोक्ष नही प्राप्त हो सकता। किसी भी जैन सम्प्रदाय ने ऐसा नही माना है और न किसी भी शास्त्र से यह मान्यता सिद्ध हो सकती है। अकेला ज्ञान मोक्ष का असमग्र कारण है और असमग्र कारण से कार्य की सिद्धि न आज तक हुई है और न कभी होगी।

उनका कहना है कि सब द्रव्य अपने-अपने रूप मे हैं। एक परमाणु को भी कोई इधर-उधर नही कर सकता। सज्जनो ! अगर यही मान्यता एकान्त रूपेण सत्य है तो क्या कोरे भाषण से आवरण दूर हो जाएगा ? अगर यो ही आवरण दूर हो जाते तो साक्षात्

तीर्थंकर भगवान् महावीर को साढे बारह वर्ष और पन्द्रह दिन तक तपस्या करने की क्या आवश्यकता थी ? क्या भगवान् को यह अपूर्व अद्भुत तत्त्वज्ञान मालूम नही था ?

आत्मा के आवरण को, आत्मा के साथ बद्ध अनन्त वर्गणाओ को दूर करने के लिए प्रयत्न अपेक्षित है और वही प्रयत्न चारित्र कहलाता है, महाव्रत समिति गुप्ति आदि जिसके प्राण है।

कपडा श्वेत है, रुई सूत आदि भी श्वेत हैं। परन्तु संगदोष से, शरीर के सम्पर्क से वस्त्र मैला हो जाता है। इस प्रकार स्वभाव से स्वच्छ होने पर भी शरीर के सम्पर्क से वस्त्र मे मलीनता आ जाती है। इतनी मलीनता आ जाती है कि उसके डोरे भी पृथक्-पृथक् ज्ञात नही होते।

यहाँ निश्चय दृष्टि से वस्त्र श्वेत-स्वच्छ है परन्तु व्यवहार दृष्टि से उसमे मैल है। मैल का आशय यह है कि उसका पूर्ववर्त्ती स्वच्छ स्वरूप मलीनता से आच्छादित हो गया है। उसमे मिलावट आ गई है।

जिस प्रकार निश्चयदृष्टि का अपलाप करना उचित नही है, उसी प्रकार व्यवहारदृष्टि का अपलाप करना भी अनुचित है। व्याव-हारिक दृष्टि को अस्वीकार करने से सम्पूर्ण लोकव्यवहार बिगड़ जाता है। एक उदाहरण लीजिए—मान लीजिए कि मल-मूत्र से लिप्त कोई वस्त्र किसी के भोजनालय मे ले गया। वह वस्त्र वाता-वरण को दुर्गंधित करता है और घृणा उत्पन्न करता है। उसे देखकर भोजनालय मे बैठा भोजन करने वाला पुरुष वस्त्र ले जाने वाले से कहता है—तुम बडे मूर्ख हो ! तुम्हे इतनी भी तमीज नही कि ऐसी गदी वस्तु भोजनालय मे नही लानी चाहिए !

यह सुनकर उस गदे वस्त्र को लाने वाला धृष्ट कहता है—तुम स्वय तत्त्व को नही समझने और मुझे मूर्ख कहते हो। अभी तक तुमने परमार्थ को नही जान पाया है। वस्त्र अपने मूल रूप मे शुद्ध ही है। उसे अशुद्ध और गदा मानना तुम्हारी भ्रान्ति है। तत्त्व को समझो, विचार करो।

यह उत्तर सुनकर भोजन करने वाला व्यक्ति क्या कहेगा? यही कहेगा न कि दुनिया भर की समझदारी का ठेका तुम्ही ने ले रखा है! अपना तत्त्वज्ञान अपने पास ही रहने दो और यहाँ से हट जाओ।

तो अभिप्राय यह है कि निश्चय जानने योग्य अवश्य है परन्तु करने योग्य तो व्यवहार ही है। अगर व्यवहार की उपेक्षा की जाय अथवा उसका तिरस्कार किया जाय तो जैनधर्म का समग्र आचरण-शास्त्र वेकार हो जाएगा। भगवान् के उपदेश रूप वारह अगो मे आचाराग सूत्र को सर्वप्रथम स्थान दिया गया है और शास्त्रो मे स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि ज्ञान का फल चारित्र है। जिस ज्ञान के फल-स्वरूप चारित्र की प्राप्ति नही होती, वह ज्ञान निष्फल है और अज्ञान की कोटि मे गिनने योग्य है। ऐसी स्थिति में व्यवहार को सर्वथा उडा देना और एकान्त निश्चय का समर्थन करना जैनधर्म के विरुद्ध है।

जिस प्रकार निश्चय मे वस्त्र शुद्ध होने पर भी व्यवहार साधने के लिए वस्त्रशुद्धि की क्रिया की जाती है, साबुन पानी आदि सामग्री को लेकर पुरुषार्थ किया जाता है, उसी प्रकार आत्मा अपने मूल भाव मे शुद्ध है तथापि व्यवहारनय से उसकी मलीनता को अस्वीकार नही किया जा सकता। व्यवहार का ध्यान रखना भी आवश्यक है।

शास्त्रों में स्थान-स्थान पर उल्लेख मिलता है कि जब भगवान् तीर्थंकर या कोई अन्य मुनि किसी नगर में पधारे और नगर के बाहर के उद्यान में ठहरे तो उस नगर के राजा ने तथा अन्य धार्मिक जनों ने स्नान करके तथा शुद्ध वस्त्र धारण करके उनके दर्शनार्थ और उपदेश श्रवणार्थ गमन किया।

श्रावकों का वह स्नान और शुद्ध वस्त्रों का परिधान कोई धर्मक्रिया नहीं थी। स्नान करने से और शुद्ध वस्त्र पहनने से धर्म नहीं होता, तथापि व्यवहार की शुद्धि के लिए वे ऐसा करते थे।

तो वस्त्र की शुद्धि के बिना काम नहीं चलता। जो आज व्यवहार का निषेध करते हैं वही व्यवहार में पूरी तरह रचे-पचे दिखाई देते हैं। यह कितने आश्चर्य की बात है कि उपदेश देते समय तो व्यवहार का निषेध करना और उपदेश के पश्चात् और पूर्व व्यवहार का अनुसरण करना! जो स्वयं साफ सुथरे रहते हैं और जिनके वस्त्र तथा अंगोपांग चमकते रहते हैं, वे जब व्यवहार का वाणी से निषेध करते हैं तो यही लोकोक्ति याद आ जाती है कि—कथनी कुछ और करनी कुछ! सारा जीवन व्यवहार में डूबा हुआ और सारा उपदेश निश्चय में डूबा हुआ! इस प्रकार की परस्पर विरोधी वृत्तियाँ जहाँ विद्यमान हों, वहाँ वास्तविकता कैसे ठहर सकती है?

जो आत्मा को एकान्त शुद्ध मानते हैं, वे स्वयं क्यों साफ-सुथरे रहते हैं? आत्मा को भूख नहीं लगती तो वे भोजन क्यों करते हैं? आत्मा का स्वभाव भाषण करना नहीं है, फिर वे क्यों भाषण करते हैं? आत्मा को थकान नहीं होती तो फिर चार आदमियों का कंधा क्यों तोड़ा जाता है, पालकी में बैठ कर? मगर जनता को फुसलाने के लिए लोग कुहेतु और कुतर्क का प्रयोग करते हैं।

एक जगह एक धर्मगुरु ने विरादरी मे फूट डाल कर एक स्थानकवासी जेन व्यक्ति को अपनी तरफ खीचने का प्रयत्न किया। वे धर्मगुरु मूर्ति मे विश्वास रखते थे। दिल्ली के एक स्थानकवासी जैन जौहरी का एक लडका उस धर्मगुरु के दर्शनार्थ वहाँ जा निकला। वहाँ चर्चा चली। गुरु जी ने उस लडके को मूंडने का प्रयत्न किया। उन्होने कहा—तुम्हारे साधु भूल करते है जो कि मूर्ति पूजा नही करते हैं। देखो वे मर कर देवलोक मे जाएगे वहाँ तो मूर्ति की पूजा करनी ही पड़ेगी। अतएव उन्हे यही से मूर्ति पूजना आरम्भ कर देना चाहिए।

जौहरी के उस लडके ने इसका ऐसा उत्तर दिया कि गुरुजी की जवान वन्द हो गई। वह वोला—देवता पूजा करते है सो व्यावहारिक दृष्टि से, लौकिक आचार के अनुसार पूजा करते है। वे सिहासन आदि को भी पूजते है। किन्तु आप तो मोक्षवुद्धि से पूजा करते है। अगर मोक्षवुद्धि से पूजा न करो तो वाधा नही।

साथ ही उसने कहा—आप आरम्भ-समारम्भ से वहुत कुछ वचे हुए हो, अत आप भी देवलोक मे जाओगे। देवलोक मे जाकर भोगी वनना पडेगा, तो क्या यह सोच कर आप यही से भोगी वन जाएँगे? क्या भोग की क्रिया यही से शुरू कर देगे?

यह युक्तियुक्त उत्तर सुनकर गुरुजी की तूती वन्द हो गई। वह लड़का होशियार था और उसे जैन सिद्धान्तो की अच्छी जानकारी थी।

तात्पर्य यह है कि आप लोगो को भी सिद्धान्त-शास्त्र की जानकारी होनी चाहिए। दुनिया मे नाना प्रकार की दृष्टियाँ

प्रचलित हैं। लोग तरह-तरह की कल्पनाएं करके मनमानी प्ररूपणा करने लगते है और सत्य को मिथ्या तथा मिथ्या को सत्य कहते हैं। जो सिद्धान्त से अनभिज्ञ हैं वे सहज मे ही ऐसे लोगो के चक्कर मे आ जाते है और सन्मार्ग से च्युत हो जाते है। कोई सच्ची क्रिया को भी जडक्रिया बतला कर उसकी अवहेलना करते हैं तो कोई लौकिक क्रियाओ मे ही धर्म समझ लेते हैं। इन सब बुराइयो से बचने का एक ही समीचीन उपाय है और वह यह कि धर्मशास्त्रो की जानकारी प्राप्त की जाय। शास्त्रों के अध्ययन से विवेक रूपी नेत्र खुल जाते है और वास्तविक प्रकाश उत्पन्न हो जाता है। उस प्रकाश मे मनुष्य स्वत अपने मार्ग का निश्चय कर सकता है। वह असन्मार्ग से बच कर सन्मार्ग पर चल सकता है।

किन्तु समाज मे सभी लोगो की योग्यता ऐसी नही होती कि वे स्वय शास्त्रो का अध्ययन, मनन, पर्यालोचन एव चिन्तन कर सके। ऐसी स्थिति मे सुगम और उत्तम मार्ग यही रह जाता है कि उन्हे सिद्धान्तशास्त्र के वेत्ता साधु-सन्तो की विशेष रूप से सगति करनी चाहिए और उनसे चर्चा-वार्त्ता करके अपनी श्रद्धा को सही रूप मे स्थिर रखना चाहिए।

हमारे एक भाई ने कहा कि बडे-बडे धनी दूसरी तरफ जाते हैं। मुझे भी कई बार विचार आता है कि ऐसा क्यो होता है? ऐसा कहने वाले के बुजुर्ग दृढधर्मी थे। मगर साधुसगति न करने से लोग डावाडोल हो जाते हैं। इसीलिए मैं भारपूर्वक कहता हूँ कि भावी पीढी को साधुओ के सन्निकट लाओ।

चार प्रकार से, साधुसमागम द्वारा, धर्म की प्राप्ति होती है। साधु उद्यान मे विराजमान हो और वहाँ जाकर उनकी उपासना-

सगति करने से,इसी प्रकार राह चलते मार्ग मे मिल जाएँ या स्थानक मे हो या गोचरी के लिए घर पर पधारे तो उन्हे वन्दन-नमस्कार आदि करने से तथा धर्म सुनने से धर्म का लाभ हो सकता है। इसके विपरीत जो साधु के समीप जाता नही, मार्ग मे मिल जाएँ तो मुँह फेर लेता है और गोचरी के लिए घर पर आवे तो किनारा काट जाता है और इस प्रकार साधु के सम्पर्क से बचता रहता है, उसे धर्म की प्राप्ति नही हो सकती।

भगवान् का मार्ग विनयमूलक मार्ग है। शास्त्र मे तीन प्रकार के आचार्य बतलाए गये है—कलाचार्य, शिल्पाचार्य और धर्माचार्य। जो गायन,वादन आदि कलाओ की शिक्षा देते है वे कलाचार्य कहलाते है। मीनाकारी आदि शिक्षा सिखाने वाले शिल्पाचार्य होते है। बहत्तर कलाएँ है और सौ प्रकार के शिल्प है। ये दोनो प्रकार की शिक्षाएँ ससार-खाते मे है। इनसे ऐहिक जीवन मे लाभ हो सकता है परन्तु परलोक के सुधार मे कुछ भी सहायता नही मिलती। ये दोनो विद्याएँ शरीरपोषण और मनस्तोष के लिए है, मगर आत्म-कल्याण के लिए नही है। ऐहिक दृष्टि से उनका कुछ भी महत्त्व हो परन्तु पारलौकिक दृष्टि से कोई महत्त्व नही है।

तीसरे प्रकार के गुरु धर्माचार्य है जो धर्म की शिक्षा देते है और शाश्वत आत्मकल्याण का मार्ग प्रदर्शित करते है।

धर्माचार्य पाँच महाव्रतो, पाँच समितियो और तीन गुप्तियो से सम्पन्न होते है। वे स्वय पाँच आचारो का पालन करते है और दूसरो से पालन करवाते है। पाँच आचार ये है —(१) ज्ञानाचार (२) दर्शनाचार (३) चारित्राचार (४) तप आचार और (५) वीर्याचार।

ज्ञानाचार का अभिप्राय है पारमार्थिक ज्ञान देना। कई साधु और आर्याएँ नई रोशनी से प्रभावित होकर कहते है—साधुओं को पाठशालाओ मे जाकर शिक्षा देनी चाहिए, मगर यह हमारे पतन की बात है। हम न कलाचार्य है, न शिल्पाचार्य हैं। यही सिखाना होता तो साधु बनने की क्या आवश्यकता थी? शास्त्र ने कलाचार्य और शिल्पाचार्य को अलग और धर्माचार्य को अलग रक्खा है। खीर और कढी का सम्मिश्रण करना अच्छा नही। ऐसा करने से दोनो का स्वाद चला जाता है। अतएव जो सब को एकमेक करने की बात करते हैं, वे समझदारी से काम नही लेते है।

ज्ञान विनय से आता है और विनय का तकाजा है कि अगर किसी को धर्म का बोध प्राप्त करना है तो वह गुरु की उपासना करे—गुरु की सेवा मे उपस्थित हो। जिसे अपनी प्यास बुझानी है उसे कूप के पास जाना पडता है। कूप को अपने पास बुलाने की इच्छा नही की जाती। प्राचीन काल के वर्णनो को पढने से स्पष्ट होगा कि जिज्ञासु जन धर्मगुरुओ के पास जाकर शुश्रूषा करते थे। राजा हो, महाराजा हो अथवा चक्रवर्ती ही क्यो न हो, वह धर्मगुरु से यह अपेक्षा नही रखता था कि वे हमारे स्थान पर आकर धर्म का उपदेश या बोध दें। न केवल ज्ञानी के प्रति, वरन् ज्ञान के प्रति बहुमान प्रदर्शित करने के लिए भी यही प्रणाली उपयुक्त है। अगर धमगुरु धर्म का बोध देने के लिए इधर-उधर भटकने लगे तो वे कही के भी नही रहेगे।

इस प्रकार भक्तो को यथोचित विनय के साथ ज्ञान लेना चाहिए और गुरु को अपने पद के गौरव की रक्षा करते हुए और साथ ही अपने उत्तरदायित्व को निभाते हुए सच्चा मार्ग बतलाना चाहिए।

वैद्य-डाक्टर का अधिकार है कि वह रोगी के हित मे जैसी दवा देना चाहे वैसी दे। वह योग्यतानुसार नीति अपनावे। सुधार की बुद्धि से शिक्षा देवे। पगडी के स्थान पर पगडी रहनी चाहिए। खीर जुदी रहे तो अच्छा स्वाद आता है। कढी के साथ मिला दोगे तो खीर का स्वाद भी गँवाओगे और कढी का मजा भी न ले पाओगे।

ससार मे खोर और कढो दोनो की जरूरत है। अर्थात् धार्मिक शिक्षा और व्यावहारिक-लौकिक शिक्षा-दोनो की आवश्यकता है। धर्माचार्य व्यावहारिक बातो मे न पडे। दुनियादारी के झमेलो से उसे दूर ही रहना चाहिए।

भगवान् ने तीनो प्रकार के आचार्यो के कार्य जुदे-जुदे बतलाए हैं। रेल की पटरी पर मोटर नही चल सकती और मोटर-रोड पर रेल नही चल सकती। मगर जब निर्धारित मार्ग से हट कर इधर-उधर चलने का प्रयत्न किया जाता है तो गडबड़ी होनी है।

तीन प्रकार के आचार्य बतलाने के साथ ही साथ यह भी बतलाया गया है कि किस आचार्य की सेवा किस प्रकार करनी चाहिए। कलाचार्य की सेवा धन-धान्य आदि से की जाती है। अन्न-पानी और द्रव्यादि देकर उसके प्रति कृतज्ञता प्रकट की जाती है। शिल्पाचार्य की सेवा भी इसी प्रकार होती है। मगर धर्माचार्य की सेवा किस प्रकार की जाय ? उत्तर है—जहाँ-जहाँ उनके दर्शन हो, वन्दना-नमस्कार करने से और निर्दोष तथा प्रासुक आहार-पानी देकर उनकी सेवा की जाती है।

अध्यापक के मिलने पर लडके उसे नमस्कार करते है परन्तु यहाँ तो भरे बाजार मे निकलने पर विरले लोग ही साधु को नमस्कार

करते होगे। ऐसे भी लोग है जो साधु को घर मे आया देख इधर-उधर मुँह छिपा लेते हैं। मगर साधुओ की सगति मे न आने वाले लोग ही प्राय ऐसा करते है। साधु घर मे प्रवेश करे और गृहस्थ कुर्सी पर जमा रहे ! यह कितनी शोचनीय स्थिति है ?

साधु मान-सन्मान का भूखा नही होता। आदर-सत्कार पाने के लिए उसने सयम अगीकार नही किया है। आदर-सत्कार पाकर उसके मन मे हर्ष नही होता और अनादर मिलने पर विषाद नही होता। मान-अपमान उसके लिए समान है। साधु जानता है कि मान-प्रतिष्ठा मिलने से ज्ञान-चारित्र की वृद्धि नही हो जाएगी और अनादर होने से उसके गुणो का ह्रास नही हो सकता। भगवान् का आदेश है कि साधु का जीवन स्वतत्र और निस्पृह होना चाहिए। आगम मे घोषणा की गई है—

जो न वदे न से कुप्पे, वदिओ न समुक्कसे।

अगर कोई गृहस्थ साधु को देख कर वन्दना नही करता तो साधु को कोप नही करना चाहिए और यदि कोई वन्दना करे तो अभिमान नही करना चाहिए।

इस प्रकार साधु का मार्ग बडा टेढा है। उसे राग से भी बचना है और द्वेष से भी बचना है।

पुढवीसमे मुणी हवेज्जा।

अर्थात्—साधु को पृथ्वी के समान सहनशील होना चाहिए।

और भी कहा है—

कोइएक वदत कोइएक निन्दत,
कोइएक भावसू देत है भिक्षण।

कोई कहै ये तो दीसे है मूरख,
कोई कहै यह तो वड़ा विचक्षण ।
'सुन्दर' कोई पै राग है न द्वेष है,
ये सब है साधु जी के लक्षण ॥

समभाव साधु जीवन का प्राण है। स्तुतिकर्त्ता और निन्दा-कर्त्ता दोनो उसके लिए समान है। वह न किसी पर रुष्ट होता है, न तुष्ट होता है। समान भाव से वह सब का कल्याण चाहता है, सब की आत्मा का हित चाहता है। धर्म की वृद्धि हो, ऐसी उसकी भावना वनी रहती है। इसी कारण मैं जोर देकर प्रेरणा करता हूँ कि भावी पीढी को धर्म का वोध देना चाहिए ।

कल जो प्रेरणा की थी उसका कुछ परिणाम निकला है। तीन-चार परिवार के वालक मेरे पास आये। मेरा विश्वास है कि प्राय वालक वात मानते हैं, सिर्फ मनाने वाला चाहिए । अगर आपने वालको को साधुओ की तरफ आकर्षित किया तो मैं यहाँ चौमासा करना सार्थक समझूँगा। धर्म की परम्परा को अविच्छिन्न रूप से प्रचलित रखने के लिए भविष्य की प्रजा को धर्मशिक्षा देने की अनि-वार्य आवश्यकता है। यही नही, उनके जीवन के सुधार के लिए भी यह आवश्यक है। जीवन मे अगर धार्मिकता का भाव न रहा तो समझ लीजिए कि वह जीवन अभिशाप वन गया। धर्मविहीन जीवन स्वय के लिए, समाज के लिए और अन्तत विश्व के लिए भी अम-गलकारी सिद्ध होता है। अतएव मैं चाहता हूँ कि आप मेरी माँग पूरी करे और वालको को साधु सम्पर्क मे लाने का प्रयत्न करे ।

यह कहने की तो आवश्यकता ही नही कि मेरी यह माँग मेरे

लाभ के लिए है। मेरी तो सिर्फ दलाली है। पूजी आपकी ही बढेगी। लाभ आपको और आपकी सन्तान को ही होगा।

भाईयो और बहिनो! मेरो बात मानो। मेरे शब्द हृदय पर लिख लो। अगली पीढी को धर्म के मार्ग पर लगाओ। इसके लिए जितना प्रयास हो सकता हो, अवश्य करो। धर्म चलाने से चलता है और बढ़ाने से बढता है। तुम अपना प्रधान कार्य यही बना लो कि तुम्हारे बच्चे धर्म की ओर आकर्षित हो। इसके लिए तुम्हे ज्यादा कुछ नही करना है, सिर्फ उन्हे साधुओ के सम्पर्क के लिए प्रेरित करना है। अगर आपने मेरी इतनी बात मान ली तो मैं मान लूँगा कि राजकोट मे चौमासा करना सफल हो गया।

हम चार मास तक तुम्हारा भोजन-पानी खा-पी कर चले जाएँ और तुम व्याख्यान सुन-सुन कर चले जाओ, इतना पर्याप्त नही है। इससे काम नही चलेगा। इतने मात्र से न आपका कर्त्तव्य पूरा होगा और न मेरा।

थोडा चलो पर मज़बूत कदमो से चलो। उचित से अधिक तीव्र वेग से फिसल जाने या ठोकर खा जाने की आशंका रहती है। एक कवि कहता है—चाल धीमी है तो क्या आएगी मज़िल जरूर, खौफगिर जाने का भी तो तेज़ रफ्तारी मे है। जहाँ का तहाँ जमे रहना और एक कदम भी आगे न बढाना मुर्दापन की निशानी है। अतएव चलो अवश्य, पर दृढता के साथ ही चलो, जिससे कोई खतरा न हो।

श्री उत्तराध्ययनसूत्र के नौवे अध्ययन मे जिक्र आया है कि नमिराज की परीक्षा के लिए इन्द्र आये। उन्होने नमिराज के सामने

अनेक समस्याएँ उपस्थित की। इन्द्र वोले—आपको साधु वनना था तो कोई वात नही, परन्तु पहले के काम पहले कर लेने चाहिएँ। किला, महल, खाई आदि वनवा कर वाद मे दीक्षा लेते।

तव नमिराज ने उत्तर दिया—
सद्ध नगर किच्चा, तवसवरमग्गल।
खत्ति निउणपागार, तिगुत्त दुप्पसधय॥
धणु परक्क किच्चा, जीव च इरिय समा।
धिइ च केयण किच्चा, सच्चेण पलिमथए॥

यहाँ पर शास्त्रकार ने श्रद्धा को नगर का रूपक देकर श्रद्धा को सव से अधिक महत्त्व प्रदान किया है। तप और सयम अर्गला हैं। क्षमा प्राकार—परकोटा—है। पराक्रम धनुष है। ईर्यासमिति उसकी डोरी है। धृति पताका है। मगर ये सव श्रद्धा रूप नगर की रक्षा के लिए हैं। इससे श्रद्धा की महत्ता स्वत प्रकट हो जाती है।

वस्तुत. धर्म की रक्षा तभी हो सकती है जव श्रद्धा मजवूत हो और श्रद्धा की मजवूती साधुओ की सगति पर निर्भर है।

सज्जनो! आप अपने वालको को उच्च शिक्षा दिलाने के लिए हजारो रुपये खर्च करके विलायत भेजते है; किन्तु हमारे पास आने मे तो कुछ भी खर्च नही करना पडता। फिर उन्हे क्यो नही भेजते? क्या पेटपालन के लिए प्राप्त की जाने वाली शिक्षा की अपेक्षा आत्मोन्नति की शिक्षा का महत्त्व कम है? पेट का पालना एक अल्पकालीन आवश्यकता की पूर्त्ति करना है, मगर आत्मोन्नति शाश्वत कल्याण का कारण है। यह जानते हुए भी आज आप लोगो

की धर्मशिक्षा के प्रति जो अरुचि है, उसे देखकर आश्चर्य और खेद होता है ।

शरीर और आत्मा दो भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। यद्यपि दोनो सयुक्त रूप मे आज उपलब्ध होते है, फिर भी दोनो के पार्थक्य मे कोई सदेह नही किया जा सकता। दोनो के गुणो मे वहुत वड़ा अन्तर है । इस के अतिरिक्त शरीर का अस्तित्व इस जीवन तक ही सीमित है जब कि आत्मतत्त्व अजर, अमर, अविनाशी है—त्रिकाल-स्थायी है। मैं यह नही कहता कि आप शरीर का रक्षण करना त्याग दे, परन्तु शरीर की रक्षा के लिए जितना प्रयत्न करते है उस से अधिक आत्मा की रक्षा के लिए अवश्य करना चाहिए । शरीर के लिए आत्मा की उपेक्षा करना विवेकशीलता नही है।

आप को जानना और निश्चय करना चाहिए कि—'मैं शरीर नही,आत्मा हू। मैं जड पदार्थो का पिण्ड नही,अनन्त चिद्स्वरूप गुणो की राशि हूँ। अनन्त और असीम ज्ञानज्योति मेरे अन्दर निहित है। मैं अमर्त्य हूँ, अजर हूँ, अविनाशी हूँ । कालचक्र मेरा कुछ भी नही विगाड सकता । वह मेरी अखण्ड सत्ता पर प्रहार करने मे असमर्थ है।'

अगर आपको इस प्रकार आत्मश्रद्धा उत्पन्न हो जाय तो आपका जीवन निराला ही हो जाएगा । आज जिस प्रकार शरी-रोपयोगी भौतिक पदार्थो की उपासना मे आप सलग्न रहते हैं, आत्मश्रद्धा होने पर वैसा न होगा। आप आत्मा के हित की भी चिन्ता करेंगे ।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, प्रत्येक शरीर मे पृथक्-पृथक् आत्मा है और सब को अपने-अपने कर्मो का फल भोगना

पडता है। अतएव अपने कल्याण के लिए आप ही उत्तरदायी है। समग्र विश्व मे एक ही आत्मा नही है कि किसी के धर्म और पुण्य से आप सुखी बन जाएँगे। आत्मा के एकत्व की बात तर्क की कसौटी पर खरी सिद्ध नही होती। इस सम्बन्ध मे बहुत कुछ कहा जा सकता है। परन्तु समय की कमी है। सक्षेप मे इतना ही कहना है कि धर्म को समझो और धर्म पर दृढ रहो। धर्मक्रिया को जडक्रिया समझ कर त्याग दोगे तो आत्मा की दुर्गति होगी। अतएव विवेक के साथ धर्मक्रिया करो। जो विवेक के साथ धर्मक्रिया करते है, वही ससार सागर से पार होते है।

राजकोट
१६-८-५४

अनन्त आत्मिक ज्योति

अरिहन्त अरिहन्त० ।

धर्मप्रेमी सुखाभिलाषी बन्धुओ तथा बहिनो !

प्रवचन का केन्द्रीभूत विषय आत्मा है। आत्मा को प्रधान लक्ष्य बना कर तत्सबधी विषयो का वर्णन भी होता रहता है। ऐसा करना इसलिए भी आवश्यक हो जाता है कि आपके ऊब उठने की सम्भावना रहती है।

आप जानते हैं कि भगवान् महावीर ने केवलज्ञान से ससार का अवलोकन किया। केवलज्ञान आत्मा की परिपूर्ण विकासप्राप्त शुद्ध चेतना है। उसके अनन्त पर्याय है और वे इतने सबल एव सक्षम हैं कि जगत् मे कभी, कही, किसी के द्वारा प्रतिहत नही होते। सूक्ष्म और स्थूल, रूपी और अरूपी, जड और चेतन, भूत, भावी तथा वर्त्तमान—सभी पदार्थ और उनके सभी पर्याय केवलज्ञान मे झलकते हैं, जैसे निर्मल दर्पण मे सामने रक्खा पदार्थ हो। जगत् मे कोई ऐसा रहस्य नही जो केवलज्ञान का गोचर न हो।

विश्व मे अनन्त पदार्थ हैं। पुद्गल अनन्त है और जीव भी अनन्त है। आकाश भी अनन्त और काल भी अनन्त है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और लोकाकाश के असख्य प्रदेश है। इनके त्रैकालिक पर्यायो की सख्या अनन्तानन्त है। पर केवलज्ञानी इन सब को युगपद् स्पष्ट रूप से देखता है।

यह विश्व, जिसका कही ओर-छोर दिखलाई नही देता, न जिसका आदि है और न अन्त है, वस्तुत यह षड् द्रव्यो का ही प्रपच-प्रसार है। छ द्रव्यो के अतिरिक्त कोई सातवाँ पदार्थ न कभी हुआ है, न है और न होगा।

जिसमे गुण और पर्याय हो, उसे द्रव्य कहते है। गुण और पर्याय यद्यपि द्रव्य मे रहते हैं, मगर वास्तव मे वे द्रव्य से भिन्न नही है। वे द्रव्य के ही अश है। जल मे तरग उत्पन्न होती है परन्तु तरग जल से भिन्न नही है, वल्कि जल का ही रूप है। तथापि तरग और जल को पृथक्-पृथक् नाम दिये गये है। तरग पानी से उत्पन्न होती है, कुछ काल तक ठहरती है और फिर पानी मे लीन हो जाती है, किन्तु पानी पानी ही वना रहता है, वह ध्रुव है।

इसी प्रकार द्रव्य से पर्याय की उत्पत्ति होती है और किसी समय उसका अन्त भी हो जाता है। मगर द्रव्य शाश्वत है। पर्याय मे जिस प्रकार उत्पाद और विनाश होता रहता है, द्रव्य मे नही होता। द्रव्य तीनो कालो मे द्रव्य ही रहता है। द्रव्य का विनाश करने की शक्ति किसी मे नही है। उदाहरणार्थ—जीव द्रव्य है और मनुष्य पर्याय है। मनुष्य सदा मनुष्य नही रहता किन्तु जीव सदा जीव ही रहता है। वह आज मनुष्य है तो कल देव, तिर्यंच या नारक भी हो सकता है, पर जीव कभी अजीव नही होगा।

इसी प्रकार गुण और द्रव्य मे भी अन्तर है। यद्यपि गुण, पर्याय की भाँति अनित्य नही है, वल्कि नित्य होता है, तथापि उसे द्रव्य नही कहा जा सकता। द्रव्य और गुण मे अशी अश का भेद है। द्रव्य अशी है, गुण अश है। गुणो का समूह द्रव्य कहलाता है। जैसे

जीव द्रव्य है और चेतना उसका गुण है। जीव मे चेतना की तरह अनन्त गुण है और उन सब का समूह जीव द्रव्य है।

इस प्रकार द्रव्य, गुण और पर्याय मे अपेक्षाकृत भेद होने पर भी तीनो की सत्ता सर्वथा पृथक् नही है।

तो यह समस्त विश्व मूलत छ द्रव्यो का ही प्रसार है, तथापि पर्यायदृष्ट्या इसमे अनन्त पदार्थ है। भगवान् ने अनन्त पदार्थो मे चार बातो को मुख्यता दी है—आत्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद और क्रियावाद। इन चारो मे भी आत्मवाद को सर्वप्रथम स्थान दे कर उसकी महत्ता सूचित की है। वास्तव मे आत्मवाद ही सब वादो का आधार है। आत्मा ही सब वादो का ज्ञाता है। उसी मे ज्ञान की शक्ति विद्यमान है। अतएव सर्वप्रथम आत्मा का बोध प्राप्त करना ही उचित है। जो आत्मतत्त्व को समीचीन रूप मे जान लेता है, उसे अन्य कुछ भी जानने की आवश्यकता नही रहती। इसके विपरीत, आत्मा के ज्ञान के अभाव मे अन्य सब पदार्थो का ज्ञान निरुपयोगी है।

भारतवर्ष मे आध्यात्मिक ज्ञान को सदैव महत्ता मिलती रही है। भारतीय दर्शनो का प्रधान प्रतिपाद्य विषय यही रहा है। जितने भी मतमतान्तर स्थापित हुए, सब ने आत्मा को जानने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार आत्मा की खोज के लिए सभी चले हैं, मगर सब अन्त तक नही पहुँच पाये। वास्तविकता यह है कि परिपूर्ण ज्ञान के बिना आत्मा को पूर्ण रूप से जानना सम्भव नही है। अतएव केवलज्ञानी ही लक्ष्य तक पहुँच सकते हैं, अन्य कोई नही।

आत्मदीपक पदार्थो को प्रकाशित करता है, परन्तु अपनी शक्ति के अनुसार। जो दीपक छोटा होता है वह कम प्रकाश करता

है और सीमित क्षेत्र मे ही प्रकाश करता है। गैस का हडा उसकी अपेक्षा अधिक प्रकाश फैलाता है। रेल के एजिन की रोशनी कई मीलो तक फैलती है, कहते है वीस-वीस मील से दिखाई देती है। पर वैज्ञानिको ने इतने मात्र से सन्तोष नही किया, वे और भी आगे वढे है। पानी के जहाज का प्रकाश और भी दूरगामी होता है। फिर भी सूर्य का जो प्राकृतिक प्रकाश है, वह असाधारण है। उसकी तुलना किसी भी कृत्रिम प्रकाश से नही हो सकती। वैसा प्रकाश न तो मानव उत्पन्न कर सका है और न कर सकेगा। सूर्य मे जो प्रकाश है. वह उसकी निधि है। वह प्रकाश के उत्कर्ष की चरमसीमा है। भौतिक प्रकाश का विकास सूर्य तक सीमित है।

नेत्रो से दिखाई देने वाला यह दीपक-प्रकाश एव सूर्य का प्रकाश भौतिक है—पौद्गलिक है। जैन शास्त्रो मे इसे पुद्गल द्रव्य का पर्याय कहा है। इसी प्रकार छाया, अन्धकार, धूप और शब्द भी पुद्गल रूप है। कई लोग अन्धकार को प्रकाश का अभाव मान कर अभावस्वरूप ही मानते हैं, पर उनको मान्यता सही नही है। जैसे प्रकाश मे रूप है उसी प्रकार अन्धकार मे भी रूप है। और जहाँ रूप होता है वहाँ स्पर्श भी होता है। अन्धकार मे शीतस्पर्श का अनुभव होता है। अतएव अगर प्रकाश अभावरूप नही है तो अन्धकार को भी अभावरूप नही माना जा सकता। अन्यथा कहने वाले यह भी कह सकते है कि अन्धकार द्रव्य है और प्रकाश अन्धकार का अभाव-रूप असत् पदार्थ है। परन्तु ये दोनो ही एक द्रव्य के दो भिन्न-भिन्न पर्याय हैं।

भौतिक पदार्थो को प्रकाशित करने के लिए वैज्ञानिक आज हाथ धोकर पीछे पड़े हैं। वे नये नये और उग्र-उग्रतर प्रकाश का

आविष्कार कर रहे है। उसके लिए करोड़ो रुपया खर्च करते है और अपने प्राण तक दे देते है। जो वैज्ञानिक लोग सरकार की ओर से नये-नये आविष्कार कर रहे है उन्हे रुपयों-पैसो की चिन्ता नही होती, क्योकि सरकार मुक्त हस्त से उनकी सहायता करती है। ऐसे लोग ही निश्चिन्त एवं एकाग्र भाव से काम कर सकते है जिनके दिमाग मे आर्थिक चिन्ता का प्रवेश न हो। जो आये दिन अजीविका के लिए चिन्तित रहते है और जिनको नोन, तेल, लकडी को चिन्ता परेशान किये रहती है, वे कोई महत्त्वपूर्ण काम नही कर सकते।

भौतिक विज्ञान का जो इतना चामत्कारिक विकास हो सका है, उसका प्रधान कारण यही है कि उसके अन्वेषक वैज्ञानिको को सब प्रकार की सुविधाएँ प्रदान की जाती है। सरकार वैज्ञानिको के परिवार का पूरा उत्तरदायित्व अपने सिर ले लेती है और वे पूर्ण एकनिष्ठा से, एकान्त मे बैठ कर सोचते और प्रयोग करते रहते है। आविष्कार करना ही उनकी साधना होती है।

चिन्तको को एकान्त की अनिवार्य आवश्यकता होती है। एकान्त के बिना एकाग्रता नही होती और एकाग्रता के बिना चिन्तन नही होता। चिन्तन के अभाव मे किसी महत्त्वपूर्ण फल की उपलब्धि नही की जा सकती। सक्षेप मे, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव चारो अनुकूल हो तब नया आविष्कार किया जा सकता है।

भौतिक आविष्कार के लिए भी इन्द्रियसयम की आवश्यकता होती है। व्यभिचारी और विषयासक्त मनुष्य कोई आविष्कार नही कर सकता। उसकी शक्ति बिखर जाती है। जैसे तेल जल जाने पर दीपक बुझ जाता है, उसी प्रकार वीर्यनाश हो जाने पर विचार-शक्ति नष्ट हो जाती है। कई लोग समझते है कि ब्रह्मचर्य सिर्फ

साधुओ के लिए ही है, मगर ऐसा समझने वाले भयकर भ्रम मे हैं। प्रत्येक मनुष्य के लिये जो दीर्घ और सुखमय जीवन व्यतीत करना चाहता है, ब्रह्मचर्य का पालन करना आवश्यक है। कहा है—

मरण विन्दुपातेन जीवन विन्दुधारणात्।

वीर्य का विनाश करना जीवन को नष्ट करना है और वीर्य की रक्षा करना जीवन की रक्षा करना है।

पुरातन भारतीय जीवनपद्धति मे जीवन के चार विभाग किये गये थे—(१) ब्रह्मचर्याश्रम (२) गृहस्थाश्रम (३) वानप्रस्थाश्रम और (४) सन्यासाश्रम। इनमे ब्रह्मचर्याश्रम विद्याध्ययन का काल है। पहले के वालक गृहस्थी से पृथक् होकर कलाचार्यो के आश्रम मे रहते और ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए विद्याभ्यास करते थे। आश्रम या गुरुकुल का जीवन प्राय वडा उत्तम होता था। विद्यार्थी वहाँ सादा, सयत और स्वावलवी जीवन विताया करते थे। वहाँ उनकी सर्वतोमुखी शिक्षा पर ध्यान दिया जाता था। मानसिक, वौद्धिक, हार्दिक एव शारीरिक शिक्षा मिलकर सर्वतोमुखी शिक्षा कहलाती है। इन चारो अगो का विकास होने पर ही जीवन का सही विकास होता है। एकागी शिक्षा से मानव-जीवन लँगडा हो जाता है। खेद है कि आज यह भारतीय परम्परा नष्ट हो चुकी है और इसी कारण लगडी शिक्षा का दौरदौरा है और इसीलिए आज का जीवन सर्वाङ्ग समृद्ध नही रह गया है।

प्राचीन कालीन गुरुकुलो मे ब्रह्मचर्य पर वडा वल दिया जाता था। अतएव ब्रह्मचर्याश्रम की समाप्ति होने पर जव मनुष्य गृहस्थाश्रम मे प्रविष्ट होता था तो उसका शरीर वलवान् और तेजस्वी होता था।

हाथो-पैरो आदि की विशेष आकृति से ही मनुष्य का निर्माण

नही हो जाता। आकृति का निर्माण तो गर्भ मे ही हो जाता है, बल्कि गर्भ मे भी पहले नक्शा बन जाता है। नर, नारी, पशु, पक्षी आदि का नक्शा जीवो के पुण्य-पाप बनाते हैं। मकान बनाने मे पहले स्थानीय नगरसमिति (म्युनिसिपैलिटी) से आज्ञा लेनी पडती है। उसकी अनुमति के बिना मकान नही बनाया जा सकता। इसी प्रकार कर्मो की अनुमति के बिना शरीर का नक्शा नही बन सकता। अभिप्राय यह है कि यद्यपि प्रत्येक जीव अपने-अपने शरीर के नक्शे का निर्माण स्वयं करता है, परन्तु कर्म उसके निर्माण मे सहायक होते हैं। अतएव इस संसार के विशाल रगमच पर दृष्टिगोचर होने वाली जीवो की पारस्परिक विलक्षण आकृतियाँ उनके अपने-अपने विभिन्न कर्मो का परिपाक है।

कई लोग शरीर आदि के निर्माण मे ईश्वर रूप कर्त्ता की कल्पना करते हैं। वे सोचते और कहते है कि इतनी सुन्दर मानव की आकृति सर्वशक्तिमान ईश्वर के अतिरिक्त और कौन बना सकता है? वस्तुत इस प्रकार की कल्पना का उद्भव मनुष्य की ईश्वर-विषयक श्रद्धा और भक्ति से ही हुआ है। तर्क और प्रमाण की कसौटी पर यह अभिमत टिकता नही है। कौन कह सकता है कि शरीर की बनावट निर्दोष है? इसमे कोई त्रुटि नही है? जो शरीर मल, रुधिर और वीर्य पर टिका हुआ है और हृदय की जरा सी धड़कन बन्द होते ही समाप्त हो जाता है, उस शरीर का बनाने वाला सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् कैसे हो सकता है?

कहावत है—'शरीर व्याधिमन्दिरम्' अर्थात् यह शरीर रोगो का घर है। क्या शरीर को व्याधिविहीन बनाना ईश्वर के सामर्थ्य से बाहर था? ससार मे सब से बड़ा अशुचि का भण्डार अगर कोई है

तो वह शरीर ही है। बुद्धिमान् और सर्वशक्तिमान् ईश्वर क्या इस से कुछ अच्छा शरीर नही बना सकता था ?

मगर इस बात को जाने दे और मान ले कि यह शरीर त्रुटि-हीन है, सुन्दर है और उपयोगी है, तो भी यह कैसे कहा जा सकता है कि ईश्वर के सिवाय अन्य कोई भी इसकी रचना नही कर सकता ? मैं कहता हूँ कि शरीर तो एक साधारण रचना है, आत्मा मे तो इस से भी अधिक उत्तम और अलौकिक रचना करने की शक्ति मौजूद है।

जैन धर्म औरो के भरोसे कार्यवाही नही छोडता। आत्मा स्वय अपने बल-बूते पर, अपने कर्मानुसार रचना करता है। यह महकमा ईश्वर के सिपुर्द नही है।

मकान मिस्त्री बनाता है और उसकी बनावट मे भूल हो सकती है, क्योकि वह न सर्वज्ञानी है और न सर्वशक्तिमान् है। मगर परमात्मा तो जगत् का अद्वितीय कारीगर है। वह सर्वज्ञ भी माना जाता है और सर्वशक्तिमान् भी। फिर उसकी रचना मे दोष क्यो हैं ? ऊपर जो शरीर सम्बन्धी दोष बतलाये गये है, उनका निवारण करने के लिए कहा जाता है कि जीव के कर्मानुसार ही ईश्वर सृष्टि रचता है। अगर यही बात है तो फिर कर्मवाद को स्वीकार करना ही पडेगा। जब कर्मवाद को स्वीकार कर लिया तो फिर ईश्वर की आवश्यकता ही नही रहती, क्योकि कर्म के निमित्त से ही जीव अपने शरीर की रचना कर सकता है।

कर्म के अनुसार ईश्वर अगर शरीर रचना करता है तो ईश्वर की स्वाधीनता मे बट्टा लगता है। वह कर्म के अधीन होकर रचना करेगा तो इसका स्पष्ट अर्थ यह निकला कि वह अपनी इच्छा के

अनुसार कुछ भी नही कर सकता। ऐसी स्थिति मे ईश्वर अनीश्वर हो जाएगा और कर्म ही ईश्वर ठहरेंगे, क्योकि अन्तिम सत्ता उन्ही की है।

इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह है कि रचना करने वाला निराकार नही साकार होना चाहिए। ईश्वर को सर्वव्यापी स्वीकार किया जाता है, परन्तु सर्वव्यापी मे हलनचलन रूप क्रिया नही हो सकती और अगर उसे नियत देशव्यापी माना जाय तो एक जगह बैठ कर सब जगह रचना नही कर सकता। जितने भी कारीगर है वे एक जगह रह कर सब जगह कार्य नही कर सकते।

इसी प्रकार रचना करने वाला मूर्त्तिमान् होना चाहिए, अर्थात् हाथ, पैर, आँख आदि होने चाहिएँ। परन्तु ईश्वरवादी कहते हैं—

> बिन पद चले सुने बिन काना,
> कर बिन कर्म करे विधि नाना।
> आननरहित सकल रस भोगी,
> बिन वाणी वक्ता बड योगी॥

ईश्वर बिना पैर चलता है और बिना कान सुनता है। बिना हाथ नाना प्रकार के काम करता है, बिना मुख सब रसो का भोक्ता है और वाणी के बिना ही वक्ता है।

इस कथन मे सचाई इतनी ही है कि जो वास्तव मे ईश्वर अर्थात् सर्वज्ञ होता है, वह इन्द्रियो के होते हुए भी उनका उपयोग नही करता। उसका नामकर्म के उदय से बना हुआ शरीर विद्यमान है, उसमे कान, आँख, नाक, जीभ और स्पर्शनेन्द्रिय हैं, तथापि वस्तु

को जानने के लिए उनका आश्रय लेने की आवश्यकता नही होती।

भगवतीसूत्र मे कुछ प्रश्नोत्तर आये हैं, जो इस प्रकार हैं—

प्रश्न—क्या छद्मस्थ मनुष्य झालर आदि के शब्द सुनता है ?

उत्तर—हाँ, सुन सकता है, यदि कर्णेन्द्रिय ठीक हो और श्रुतविज्ञान का आवरण न हो।

प्रश्न छद्मस्थ स्पृष्ट शब्द सुनता है या अस्पृष्ट ?

उत्तर--स्पृष्ट शब्द सुनता है, अस्पृष्ट शब्द नही सुनता।

प्रश्न—वह आरगत शब्द सुनता है या पारगत ?

उत्तर—छद्मस्थ आरगत शब्द सुनता है, पारगत नही। अर्थात् पास के सुनता है, दूर के नही।

प्रश्न—क्या केवली सर्वज्ञानी भी इसी प्रकार के शब्द सुनते है ?

उत्तर—नही, केवली निरावरण होने के कारण इन्द्रियो का प्रयोग नही करते। यद्यपि नामकर्म के उदय से इन्द्रियाँ उनकी बनी है, तथापि वे उनसे काम नही लेते।

हम लोग कान मे शब्द आने पर ही सुन सकते हैं और आँखो के सामने, परिमित दूरी पर, रूपी पदार्थ होने पर ही देख सकते है। जब हम किसी पदार्थ को देखते है तो काला, नीला, पीला आदि सामान्य रूप मे ही देख पाते है। यह नही देख पाते कि यह एक गुण काला, दो गुण काला, सख्यात गुण काला, असख्यात गुण काला या अनन्त गुण काला है। यही बात स्पर्श, रस, गध आदि के विषय मे है। परन्तु केवलज्ञानी परिपूर्ण ज्ञानी होने के कारण सब कुछ ठीक रूप मे ही जानते-देखते हैं।

नाक के साथ गंध के पुद्गलो का स्पर्श हो, जीभ के साथ रसपुद्गलो का सयोग हो और स्पर्शनेन्द्रिय के साथ स्पर्श का ससर्ग हो, तभी हम उन्हे जान सकते हैं। परन्तु केवली डिब्बी मे बन्द पदार्थ के रूप, रस, गध और स्पर्श को भी जान सकते है। हमारा ज्ञान भ्रमपूर्ण अथवा विपरीत भी हो सकता है, परन्तु केवली का ज्ञान अभ्रान्त और समीचीन ही होता है। वे मिठाई मे रही हुई अव्यक्त खटाई को भी जानते है। वे क्षेत्र और काल की दूरी पर विजय प्राप्त कर चुके है। कोई भी वस्तु हो, कितनी भी दूर हो और कही भी उसकी सत्ता रही हो, सम्बद्ध हो या असम्बद्ध हो, अवश्य ही उनके ज्ञान का विषय वन जाती है।

प्रत्यक्ष और परोक्ष का भेद छद्मस्थ जोवो के लिए है। केवली के लिए सभी पदार्थ प्रत्यक्ष है। जगत् मे जिन वस्तुओ की सत्ता है वे सव केवलज्ञान मे प्रतिविम्वित होती है। जो केवलज्ञान मे प्रति-विम्वित नही होता, उसकी सत्ता भी नही है।

लालटेन को चिमनो की जरूरत है। दीपक का तेल-वत्ती चाहिए। विजली को लट्टू अपेक्षित है। परन्तु सूर्य को किसी उप-करण की आवश्यकता नही है। इसी प्रकार केवली को भी इन्द्रिय आदि किसी उपकरण की आवश्यकता नही है।

तो क्या केवलज्ञान सूर्य के समान है? नही, अनन्त सूर्य मिल कर भी केवलज्ञान की वरावरी नही कर सकते। सूर्य का प्रकाश कितना ही प्रखर क्यो न हो, आखिरकार जड है। वह स्थूल पदार्थो को एक सीमा के भीतर ही प्रकाशित कर सकता है। भूत-भवि-ष्यत्कालीन पदार्थो तक तो उसकी पहुँच ही नही है। परन्तु जैसा कि अभी कहा गया था, केवलज्ञान चैतन्यरूप होने के कारण असीम है। उसकी ज्योति कही भी और कभी भी, प्रतिरुद्ध नही होती।

इस प्रकार सर्वज्ञ परमात्मा शब्दादि विषयो को विना उपकरण जान सकता है, परन्तु शरीर आदि की रचना विना उपकरण नही कर सकता।

जैसा कि पूर्व मे कहा गया था, अगर ईश्वर कर्म के अनुसार सृष्टि रचना करता है तो घूमघाम कर कर्मवाद का ही आश्रय लेना पडता है। जहाज का उड़ा पक्षी जब कोई आश्रय नही देखता तो इधर-उधर घूम कर फिर जहाज पर ही आ जाता है।

मिथ्यात्व की भूमिका का त्याग जब होता है तो सम्यक्त्व की भूमिका प्राप्त होती है और यही आत्मदर्शन की प्रथम भूमिका है। यह भी एक विश्रामस्थान है, परन्तु अन्तिम विश्रामस्थान नही है। प्रथम गुणस्थान से छूटकर चौथे गुणस्थान मे पहुंचने पर आत्मा को पहली बार विश्रान्ति प्राप्त होती है। वहाँ ज्ञान और दर्शन की दोनो पाखे मजबूत हो जाती है। इन पाखो के सहारे मनुष्य चौदहवे गुणस्थान तक उडता है। तत्पश्चात् चारित्र की भी पूर्णता का बल प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

मोक्ष प्राप्त होने पर आत्मा अपने स्वभाव के अनुसार ऊर्ध्व-गति करता है। उसकी ऊर्ध्वगति मे धर्मास्तिकाय निमित्त कारण है। जहाँ तक यह निमित्त कारण मिलता है वहाँ तक आत्मा की गति जारी रहती है और धर्मास्तिकाय का अन्त होने पर गति का भी अवरोध हो जाता है। धर्मास्तिकाय लोकाकाश के भीतर ही है, बाहर नही, अतएव मुक्तात्मा लोकाकाश के अन्तिम भाग मे पहुँच कर स्थित हो जाता है। शास्त्र मे उसे 'लोगमत्थपत्थो' अर्थात् लोक के मस्तक—अग्रभाग—पर स्थित कहा गया है।

मुक्त जीव की अधोगति या तिर्यक्-गति न होकर ऊर्ध्वगति ही

क्यो होती है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जीव का स्वभाव ही ऊर्ध्वगमन करना है। जवतक जीव कर्मो के भार से गुरु (भारी) वना रहता है तवतक वह अपने स्वभाव के अनुकूल ऊर्ध्वगमन करने मे असमर्थ रहता है, परन्तु जव कर्मकृत गुरुत्व नष्ट हो जाता है तो वह लघुभूत होकर ऊर्ध्वगमन करता है। जैसे मिट्टी के लेप वाला तूंवा पानी के तल भाग मे जा वैठता है, परन्तु लेप हट जाने पर ऊपर आ जाता है, उसी प्रकार कर्मलेप के हटने से जीव ऊपर चला जाता है।

अथवा जैसे एरड का वीज डोडी के वन्धन से मुक्त होकर ऊपर की ओर उछलता है, उसी प्रकार कर्मवध का उच्छेद होने पर जीव ऊर्ध्वगति करता है। कर्मवध का छेद होने से उत्पन्न होने वाली यह गति वधच्छेदगति कहलाती है। ससारी जीव ने गतियां तो वहुत की, एक वार नही अनन्त वार इधर-उधर गमनागमन किया, पर वंधच्छेदगति नही की। की होती तो मोक्ष प्राप्त हो जाता। इस गति के पश्चात् फिर कोई गति करना शेष नही रहता।

अज्ञानी ससारी जीव अज्ञानाकाश मे उड़ते है और कभी इतने नीचे गिरते है कि अनन्त काल तक भी नही उठ पाते। निगोद मे पड़े-पड़े अनन्त काल व्यतीत हो जाता है। यह मिथ्यात्व का ही प्रताप है। मिथ्यात्वी की दृष्टि मे दोष होता है। जैसे पित्त ज्वर से ग्रस्त व्यक्ति को मीठा दूध भी कटुक लगता है, उसी प्रकार मिथ्या-दृष्टि को सत्य असत्य प्रतीत होता है और असत्य, सत्य जान पडता है। जव दर्शनमोह की प्रवलता कम होती है तव सम्यग्दृष्टि उत्पन्न होती है और वह दृष्टि सीधी होती है।

एक सेठ जी वम्वई या कलकत्ता गये। कुछ समय तक वहाँ

रह कर जब घर लौटे तो उन्हे पीलिया रोग हो गया। परन्तु उन्हे अपने रोग का पता नही था। घर आने पर सब घर वाले मिले। फिर उनकी पत्नी भी मिली। उसने अत्यन्त प्रेम के साथ स्वागत किया। मगर सेठ अपनी पत्नी को पहचान न सका। वह बोला—मैं नही जानता तुम कौन हो ? कहाँ से, किसलिए आई हो ?

स्त्री बोली—पचो की साक्षी से पाणिग्रहण करके लाये हो, फिर ऐसा क्यो कहते हो ?

सेठ—तुम मुझे छल नही सकती।

दर्शक—सेठजी, ठीक तो कह रही है सेठानी जी ! यह आपकी ही पत्नी है।

सेठ—तुम सभी पाखडी मालूम होते हो। सब ने मिल कर कोई षड्यत्र तो नही किया है ? मेरी पत्नी श्यामा थी और यह पीली है। यह मेरी पत्नी कैसे हो सकती है ?

इसके पश्चात् सेठ ने उसे बाहर निकल जाने को कहा। लोगो ने समझाया, पर वह मानने को तैयार न होता था। यह झगडा देखने-सुनने को बहुत-से लोग जमा हो गए, क्योकि लोगो को लडाई-झगडा बडा प्रिय होता है। कहा है—

मिजाजी इश्क के बदले, हकीकी इश्क हो जाता।
न रहती नाव चक्कर मे, यह बेडा पार हो जाता॥

प्रीति दो प्रकार की होती है। अथवा यो कहना चाहिए कि प्रेम के दो रुख होते है—आत्मा की ओर और विषयभोगो की ओर। इसी को उर्दू मे हकीकी इश्क और मिजाजी इश्क कहते है। सिनेमा आदि देखना मिजाजी इश्क है। ससार मे प्राय इसी का प्रसार देखा

जा रहा है। अगर इस इश्क का रुख वदल जाय और जो प्रेम विषयो के प्रति है, वह धर्म को ओर हो जाय तो वेडा पार हो जाता है।

जैसे व्यभिचारी पत्नी का मान नही कर सकता, उसी प्रकार मोहग्रस्त जीव शुद्ध आत्मा का मान नही कर सकता। स्वदार-सतोपी ही स्वस्त्री का मान कर सकता है। जो राग-रग मे सरावोर है, विषयो के विष से मूर्छित है और भोगकामना से जिसकी वुद्धि कलुपित हो गई है, वह आत्मा की ओर ध्यान नही देता और इस कारण आत्मा को नही जान सकता।

हॉ, तो जव पति और पत्नी मे यह झगड़ा हो रहा था, वहॉ अचानक एक वैद्यराज जा पहुँचे। उन्होने पूछा—यह क्या झगडा चल रहा है? तव लोगो ने हसते हुए कहा—वड़ा विचित्र मामला है। सेठजी अपनी पत्नो को भूल गये है और उसे घर से निकाल देना चाहते हैं।

वैद्य गभीर और परोपकारपरायण था। उसने गभीर दृष्टि से सेठ को देखा तो पता चला कि इसके चेहरे पर दुष्टता, दुर्जनता या कपट का भाव नही है, वल्कि वह भी परेशानी अनुभव कर रहा है। यह देख कर उसने सेठ जी से वातचीत की। अतत सेठ जी का चेहरा देख वह समझ गया कि सेठ को पीलिया रोग है, अतएव इसकी दृष्टि मे विकार उत्पन्न हो गया है।

यह सव सोचकर वैद्य ने सेठ से कहा—इस स्त्री को घर से वाहर निकालने का जिम्मा मैं लेता हूँ, मगर उससे पहले तुम मेरी दवा खाओ।

सेठ ने दवा खाई और तीन ही पुडियो से उसका रोग दूर हो गया। रोग दूर होने पर श्यामा अब श्यामा दिखाई देने लगी। वह अपनी पत्नी को पहचान गया। उसका भ्रम दूर हो गया। अब उसे कोई भी बहका नही सकता।

इस उदाहरण के आधार पर हमे प्रकृत विषय को समझना है। सेठ के समान यह आत्मा है। जब इसे पीलिया के समान मिथ्यात्व का रोग होता है तब यह आत्मा को आत्मा नही मानता। परन्तु जब वैद्य के समान गभीर और परोपकारी गुरु का सयोग मिलता है और वह सम्यक्त्व रूपी औषध देता है, तब वह स्व-आत्मा को पहचान पाता है।

आत्मा के स्वरूप को ठीक तरह न समझ सकने के कारण ही विधाता या जगत्कर्त्ता ईश्वर की कल्पना करनी पडती है। मगर सृष्टि की रचना, पालन और सहार का काम ईश्वर के जिम्मे सौप देने से ईश्वर का स्वरूप किस प्रकार विकृत हो जाता है, उसमे कितनी बुराइयाँ आ जाती हैं, इस बात को भुला दिया जाता है। अगर ईश्वर ने सचमुच ही सृष्टि रची होती तो हमे वैसा मानने मे क्या पशोपेश था? मगर इसमे ईश्वर का स्वरूप गडबड़ मे पड जाता है।

अगर ईश्वर रचना करता है तो किसी को उच्च और किसी को नीच क्यो बनाता है? किसी को धनी और किसी को निर्धन, किसी को सुखी और किसी को दुखी बनाने का क्या कारण है? कर्मानुसार रचना करने की बात कह देने से काम नही चलता। आखिर यह भी देखना चाहिए कि ईश्वर किस प्रयोजन की सिद्धि के लिए जगत् की रचना करता है? कहावत है—'प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते।' अर्थात् मूर्ख मनुष्य भी प्रयोजन के बिना प्रवृत्ति

नही करता, तब ईश्वर तो ज्ञानवान् है। उसकी रचना मे प्रवृत्ति विना प्रयोजन कैसे हो सकती है ? प्रयोजन दो ही हो सकते हैं—स्वार्थ की पूर्त्ति या परोपकार। अगर यह मान लिया जाय कि ईश्वर-स्वार्थ से प्रेरित होकर सृष्टिरचना करता है तो वह कृतकृत्य और पूर्ण नही होगा बल्कि ससारी जीवो के ही समान हो जाएगा। अगर परोपकार की भावना से रचना करता है तो सारे ससार को सुखी, सुन्दर और रमणीय ही बनाना चाहिए। मगर यहाँ तो दु ख, दरिद्रता, दुर्भाग्य आदि सैकडो बाते ऐसी देखी जाती है जिन से मालूम होता है कि यह सष्टिरचना किसी दयालु को नही हो सकती।

ईश्वर को निष्कर्म माने तो उसे इन्द्रिय आदि उपकरण नही मिल सकते और उनके बिना वह रचना नही कर सकता। सकर्मा माने तो वह ईश्वर न रह कर साधारण ससारी जैसा हो जाता है।

सचाई यह है कि जगत् की कभी किसी ने रचना नही की है। यह जगत् अनादि और अनन्त है—सदा से है और सदैव रहेगा। कदाचित् सृष्टि का आरम्भ माना जाय तो यह मानना होगा कि उस से पहले किसी भी वस्तु की सत्ता नही थी—सब कुछ महाशून्यमय था। किन्तु शून्य से कभी किसी वस्तु का निर्माण नही होता। ऐसा न कभी हुआ, न होगा। शून्य से वस्तु बनती होती तो रोटी के लिए आटे की, आभूषणो के लिए सोने की, मकान के लिए ईंट-पत्थरो की और फर्नीचर के लिए लकडी आदि की क्या आवश्यकता थी ? उपादान के विना कार्य की उत्पत्ति होना असभव है। अगर कहा जाय कि उपादान पहले-से मौजूद थे और उनके आधार से ईश्वर ने सृष्टि रची है, तो प्रश्न होता है कि वे उपादान कहाँ से आये ? उन उपादानो के भी कोई

उपादान होंगे और उनके भी कोई उपादान होगे । इस प्रकार परम्परा मे जगत् मे पदार्थो की सत्ता अनादिकालीन माननी पडेगी ।

इस प्रकार जब युक्ति के आधार पर विचार किया जाता है तो जगत् की अनादिता ही सिद्ध होती है । वास्तव मे षड्द्रव्यमय इस जगत् का न कोई निर्माता है और न सहर्त्ता है। यह अनादि और अनन्त है। प्रकृति द्वारा और विभिन्न मानवो आदि के द्वारा इसमे रूपान्तर होता रहता है। जीव अपने-अपने कर्मो के अनुसार विभिन्न योनियो मे उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार जगत् परिणामी-नित्य है।

आज के वैज्ञानिक नवीन-नवीन खोजे कर रहे है परन्तु उनके दिमाग मे भौतिकता का भूत घुसा है। इस कारण जड पदार्थो की शक्तियाँ हमारे सामने आ रही हैं। वे आत्मवाद को भूल गये हैं। जिस दिन विज्ञान अध्यात्मवाद की ओर अपने चरण रक्खेगा वही दिन जगत् के लिए मगल-दिन होगा। उस दिन शान्ति और सच्ची समता की प्रतिष्ठा होगी।

जिस विज्ञान के साथ आध्यात्मिकता का मेल नही है, वह विज्ञान कितना ही विकसित क्यो न हो जाय, जगत् के लिए सुखप्रद, शान्तिप्रद और मगलकर नही हो सकता । उसकी बदौलत मनुष्य जाति की मुसीबते ही अधिक बढ सकती है।

यह न समझिये कि जड पदार्थो के मुकाबिले आत्मा मे कोई शक्ति नही है। आत्मा की अनन्त शक्तियाँ है और उनके सामने जड़-शक्ति किसी गिनती मे नही है। परन्तु आत्मा उस सेठ के समान अपने स्वरूप को भूल गया है। लोगो को आत्मा पर विश्वास नही है। आत्मा की शक्ति का पता तब चलता है जब 'पीलिया' रोग नष्ट हो जाता है।

सज्जनो ! आत्मा मे अखिल विश्व को जानने वाला ज्ञान विद्यमान है, असाधारण ज्योति उसका स्वरूप है, परन्तु ज्ञानावरण कर्म रूपी मेघपटल को हटाये बिना वह ज्योति चमक नही सकती। मेघपटल प्रचड वायु से हटता है। यहाँ अरिहन्त भगवन्त के गुणगान की प्रचण्ड वायु चाहिए। जब भक्ति का तूफान आपके अन्त करण मे उठेगा और वह प्रचण्ड रूप धारण करेगा तो ज्ञानावरण के बादल बिखर जाएँगे।

अरिहन्त भगवान् का भावपूर्वक गुणगान करने के लिए दृढ आत्मविश्वास उत्पन्न होना चाहिए। अगर पूर्ण आत्मविश्वास के साथ आप भगवान् की भक्ति करेंगे तो निस्सन्देह आपकी आत्मा पर चढा आवरण हट जाएगा और आत्मा की ज्योति चमक उठेगी।

सज्जनो, मेरे मस्तिष्क मे अनेक बाते आती है, मगर उन्हे कहने मे विचारना पड़ता है। कभी ऊपर-ऊपर तैरता हूँ अर्थात् साधारण रूप से कथन करता हूँ और कभी गहरा गोता भी लगाता हूँ। मैं अपनी ट्रेनिंग भूल न जाऊ इस विचार से कभी-कभी गहरा उतर जाता हूँ।

अन्त मे यही कहना है कि आप अपने स्वरूप को पहचाने—आत्मा की अनन्त शक्ति को जाने। भगवान् अरिहन्त का गुणगान करे। ऐसा करेंगे तो ससार-सागर से पार हो जाएँगे।

राजकोट
१७-८-५४

कर्म-विपाक

अरिहन्त अरिहन्त० ।

सज्जनो और बहिनो !

कल इस बात पर प्रकाश डाला गया था कि शरीर आदि की रचना कर्म का कार्य है । समग्र सृष्टि या उसके अगभूत किसी पदार्थ की रचना करने मे अथवा शरीर आदि की रचना करने मे ईश्वर का कोई हाथ नही हो सकता । ईश्वर का दर्जा बहुत ऊँचा और असाधारण है । सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, वीतराग और कृतकृत्य परमात्मा ही ईश्वर का पद प्राप्त करता है । ऐसे ईश्वर का सृष्टि के निर्माण आदि की झझटो मे पडना सभव नही है । किसी को नरक मे और किसी को स्वर्ग मे भेजना, किसी को एक और किसी को दूसरी सजा देना ईश्वर के लिए योग्य नही है ।

ईश्वर अगर सर्वशक्तिमान् है और दयालु भी है तो वह जीवो को पापकर्म करने से रोक देगा, परन्तु ऐसा नही करेगा कि पहले वह पापकर्म करने दे, रोकने की शक्ति होने पर भी रोके नही और फिर उसी पापकर्म के लिए दड दे । कोई भी विवेकशील पिता अपने पुत्र को जानते-बूझते गडहे मे नही गिरने देता । ईश्वर को जब परमपिता के रूप मे स्वीकार किया जाता है तो वह इस प्रकार की निर्दयता प्रदर्शित नही करेगा । अतएव ईश्वर का यह काम नही है ।

दुनिया के काम, ईश्वर का हस्तक्षेप किये विना ही, दूसरे-दूसरे तरीको से चल रहे है।

जीव के शरीर का निर्माण नामकर्म के उदय मे होता है। शास्त्र मे आठ प्रकार के कर्म माने गए है। उन आठ कर्मो मे एक नामकर्म भी है, जिसका दायरा काफी लम्बा-चौडा है।

कार्मण शरीर आठ कर्मो का कोश-खजाना है। ज्ञानावरणीय आदि आठो कर्म कार्मणशरीर के ही रूपान्तर है। कर्म एक प्रकार के पुद्गल है, जिन्हे मेटर, प्रकृति, माया या अदृष्ट आदि शब्दो से भी कहा जाता है। वैदिक परम्परा मे माया या प्रकृति कहते हैं, उर्दू मे मादा कहते है और अगरेजी मे मेटर कहते है। यद्यपि इनके सूक्ष्म भाव मे किंचित् अन्तर हो सकता है, तथापि स्थूल रूप मे सब कर्म के ही नाम है।

पुद्गल का मूल स्वरूप परमाणु है। परमाणुओ के सयोग से स्कध वनता है। मिलना और विछुडना पुद्गल की स्वाभाविक परिणति है। जब दो परमाणुओ का सयोग होता है तो द्व्यणुक का अर्थात् द्विप्रदेशस्कध का निर्माण होता है।

पुद्गल के चार रूप हैं—(१) स्कध (२) देश (३) प्रदेश और (४) परमाणु। इन्हे समझने के लिए एक उदाहरण लीजिए—लड्डू एक स्कध है। वह परमाणुओ के सयोग से स्कध के रूप मे परिणत हुआ है। उसका आधा भाग देश है। लड्डू के साथ जुड़ा हुआ परमाणु प्रदेश कहलाता है और वही जब स्कध से अलग हो जाता है तो परमाणु कहलाता है।

अभिप्राय यह है कि स्कध स्थूल अवस्था है। देश उससे

छोटा और प्रदेश तथा परमाणु उससे छोटे है। परमाणु पुद्गल का वह सूक्ष्मतम अश है, जिस का कोई भाग नही हो सकता। वह अन्तिम अश है। वह इतना सूक्ष्म होता है कि चर्मचक्षुओ के द्वारा देखा नही जा सकता। उसे शस्त्र छेद नही सकता, आग जला नही सकती, पानी गला नही सकता। उसके दो भाग नही हो सकते।

यद्यपि शरीर के उपादान कारण औदारिक वर्गणा के पुद्गल है, तथापि कार्मणवर्गणा के पुद्गलो की सहायता के विना शरीर का निर्माण नही हो सकता। अनन्तानन्त परमाणुओ का पिंड रूप स्कंध ही कर्मरूप मे परिणत हो सकता है। दो, तीन, सख्यात, असख्यात या अनन्त परमाणु कर्मरूप मे परिणत नही होते। वे आत्मा पर सुख दु खादि का अपना असर डालने मे समर्थ नही हो सकते। उदाहरणार्थ—औषध जितनी मात्रा मे आवश्यक है उतनी ही मात्रा मे हो तो असर करती है। उससे कम मे काम चल जाय तो कौन अधिक खावे और खर्च करे? इस का अर्थ यह न समझे कि थोडी औषध मे शक्ति नही है। अगर थोडी मे शक्ति न हो तो ज्यादा मे कहाँ से आ जाय? एक डोरे मे बाँधने और गतिनिरोध करने की शक्ति विद्यमान है, परन्तु किसी मनुष्य को रोकने के लिए जितनी चाहिए उतनी नही है। जब बहुत-से डोरे इकट्ठे होते है तो वे बाँधने मे समर्थ हो जाते है। प्रत्येक डोरे मे शक्ति विद्यमान है और सगठन होने पर वह अधिक हो जाती है। विखरी शक्ति केन्द्रित हो जाती है। इसी प्रकार द्विप्रदेशी, त्रिप्रदेशी या असख्यातप्रदेशी स्कध आत्मा को नही बाँध सकते परन्तु जब वह अनन्तानन्त होते है तो आत्मा के बन्धन के कारण बन जाते है।

कर्म आत्मा को बाँधते है और आत्मा कर्मो को बाँधती है।

दोनो परस्पर बधे हुए,है। इस पारस्परिक बन्धन से दोनो के स्वरूप मे विकार आ जाता है। दोनो अपने-अपने स्वरूप से च्युत हो जाते है। यह कर्म का ही प्रभाव है कि आत्मा की अनन्त शक्तियाँ आज आच्छादित हो रही है। परमात्मा और आत्मा मे तात्त्विक दृष्टि से कुछ अन्तर नही है, तथापि आज जो महान् अन्तर दृष्टिगोचर होता है, उसका एकमात्र कारण कर्म का पड़ा हुआ प्रभाव ही है। जब यह प्रभाव दूर हो जाता है तो आत्मा की निजी शक्तियाँ शुद्ध स्वरूप मे चमक उठती हैं। तब आत्मा परमात्मा कहलाने लगता है।

कर्म आत्मा पर किस प्रकार असर डालते है, इस विषय मे कई प्रकार के प्रश्न किये जाते है। कर्मशास्त्र मे उन प्रश्नो का समुचित समाधान किया गया है। यहाँ उस विस्तार मे जाना सभव नही है, तथापि कुछ मोटी-मोटी बातो पर विचार कर लेने से आप को लाभ ही होगा।

सब से पहले जो प्रश्न उपस्थित होता है, वह यह है कि आत्मा अमूर्त्त और कर्म मूर्त्त है। ऐसी स्थिति मे दोनो का सयोग किस प्रकार हो सकता है ? जैसे सर्दी और गर्मी से आकाश ठडा और गर्म नही होता, क्योंकि वह अमूर्त्त है, उसी प्रकार कर्मो से आत्मा प्रभावित नही हो सकता।

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यद्यपि आत्मा स्वभाव से अमूर्त्त है, मगर शरीर के साथ सम्पर्क होने से संसारी आत्मा कथचित् मूर्त्त है। अत कर्म के साथ आत्मा का जो सबन्ध है, वह मूर्त्त का अमूर्त्त के साथ सबन्ध नही, बल्कि मूर्त्त का मूर्त्त के साथ ही सबन्ध है, क्योकि सशरीर आत्मा को ही कर्मबन्ध होता है, अशरीर सिद्ध आत्मा को नही।

दूसरी बात यह है कि मूर्त्त का अमूर्त्त पर प्रभाव पड ही नही सकता, यह एकान्त भी ठीक नही है। जीव की चेतनाशक्ति अमूर्त्त है और मदिरा मूर्त्त है। फिर भी मदिरा के प्रभाव से चेतनाशक्ति प्रभावित होकर विकृत हो जाती है।

कहा जा सकता है कि आत्मा सशरीर और मूर्त्त तो तब बना जब उसका कर्म के साथ सयोग हुआ, पर कर्मसयोग होने से पहले तो आत्मा अमूर्त्त ही था। फिर कर्मसयोग कैसे हो गया ?

इस सबध मे यही कहना पर्याप्त है कि आत्मा का कर्म के साथ अनादि से सबध है। ऐसा कोई काल नही जब आत्मा कर्म से बद्ध नही था और फिर बद्ध हो गया हो। यद्यपि कोई एक कर्म अनादि काल से अबतक आत्मा के साथ नही चला आ रहा है, फिर भी कर्म की सन्तति अनादिकालीन है। बीज और वृक्ष की परम्परा की भाँति द्रव्यकर्म और भावकर्म (राग-द्वेष) का अनादिकालीन कार्यकारण भाव चला आ रहा है। इस कार्यकारणभाव का सदा के लिए अन्त हो जाना ही मोक्ष है। एक बार आत्मा जब निष्कर्म हो जाती है तो फिर कभी उसका कर्म के साथ सयोग नही होता।

कर्म के विषय मे दूसरी शका यह की जाती है कि वह जड है, पुद्गल है। जड कर्म जीव को सुख-दु ख आदि फल नही दे सकता। जड को क्या पता कि अमुक को अमुक प्रकार का फल देना चाहिए ? एक मनुष्य ने पुण्य किया है तो उसे सुख की प्राप्ति होती है और दूसरे ने पाप किया है तो उसे दु ख प्राप्त होता है। इस प्रकार पुण्य का फल सुख और पाप का फल दु ख होना चाहिए, यह विवेक जड़ को नही हो सकता। इसने पुण्य किया या पाप किया है, जड को तो यह भी नही मालूम हो सकता।

जो जज यही नही जानता कि अपराध क्या है, किस अपराध का क्या फल होना चाहिए और अमुक व्यक्ति ने अपराध किया है या नही किया है, वह कैसे समुचित न्याय कर सकता है ? दण्डदाता चेतन होना चाहिए। चेतन के अतिरिक्त दूसरा कोई भी न्यायासन पर वैठने का अधिकारी नही है।

इस प्रकार विचार करने से प्रतीत होता है कि जड़ कर्मों के द्वारा जीवो को फल देने की वात युक्तिसगत नही हो सकती। यह दूसरो की शका है।

सज्जनो ! आप लोगो को अपने सिद्धान्त का पता होना चाहिए। ज़माना चारित्र की दृष्टि से पिछडा है परन्तु तर्कवाद मे आगे वढा है। आज तर्क के आधार पर ही किसी से कोई वात मनवाई जा सकती है।

जैन-सिद्धान्त वहुत उच्च कोटि का है। निष्पक्ष अन्य मतावलम्वी विद्वान् मुक्तकठ से उसकी प्रशसा करते है। परन्तु खेद की वात है कि जैनसिद्धान्त के अनुयायी स्वय अपने सिद्धान्त से अपरिचित रहते हैं। वे उसे समझने का प्रयत्न नही करते।

कल के भाषण मे मैंने जिन विषयो पर प्रकाश डाला था, उनके सम्वन्ध मे रात मे आने वालो से प्रश्न किये कि—आज आपने क्या सुना था ? आज के भाषण मे क्या भाव प्रकट किये गये थे ? मुझे जो उत्तर मिलना चाहिए था उस रूप मे नही मिला। मैंने फिर उन लोगो को इसी वात पर वल दिया कि इस समय के प्रवचन मे आप जो सुनते है, उस पर चिन्तन-मनन करना चाहिए। कोई वात स्पष्ट समझ मे न आवे या शका रह जाय तो पूछना चाहिए। ऐसा

करने से आप सिद्धान्त से परिचित होगे। आपके ज्ञान की वृद्धि होगी और किसी के सामने निरुत्तर होने का प्रसग नही आएगा।

किसान एक बार ही खेत मे हल चला कर नही रह जाता। वह बार-बार जमीन को जोतता है। ऐसा करने से जमीन कोमल और उपजाऊ हो जाती है। इसी प्रकार आपको भी वाचना, पृच्छना और अनुप्रेक्षा आदि करना चाहिए। नया-नया पढना वाचना कहलाता है। पढे हुए मे जो बात समझ मे न आवे उसे विशेषज्ञो से पूछना पृच्छना है। पूछताछ कर समझे हुए विषय पर स्वय मनन करना अनुप्रेक्षा है। पुन पुन उसकी आवृत्ति करना परिवर्त्तना है और फिर दूसरो को उस विषय का बोध देना धर्मोपदेश कहलाता है। भगवान् ने स्वाध्याय के यह पाँच भेद बतलाये है। स्वाध्याय की बडी महिमा है। उसकी गणना अन्तरंग तप मे की गई है।

कई लोग अहकार के वशीभूत होकर पूछने मे सकोच करते हैं। परन्तु ऐसा नही होना चाहिए। जबतक केवलज्ञान न हो जाय तबतक सभी विद्यार्थी हैं। कोई छद्मस्थ यह दावा नही कर सकता कि उसे सभी कुछ मालूम है। जिनेन्द्र भगवान् का श्रुत महासमुद्र के समान है। उसमे जो जितना गहरा गोता लगाता है, उसे उतनी ही अधिक ज्ञानप्राप्ति होती है। श्रुत ज्ञान का अहकार करना किसी को भी उचित नही है। हमे अपनी अल्पज्ञता को विनम्रतापूवक स्वीकार करना चाहिए और नि सकोच भाव से दूसरो के अध्ययन, मनन और चिन्तन से लाभ उठाना चाहिए। किसी ने गाढ श्रम करके जानकारी प्राप्त की है और आपको सहज ही उसका लाभ मिल सकता है तो क्यो चित रहते हो ?

गौतम स्वामी चार ज्ञानो के धारक थे। उन्होने भी अनेक

धार भगवान् के समक्ष उपस्थित होकर प्रश्न किये और तत्त्व का निर्णय किया। उनकी तुलना में हम किस विसात मे है ? फिर भी अहकार के कारण जो लोग पूछने मे संकोच करते हैं, वे नादान है और तत्त्वज्ञान से वचित रह जाते है।

कोई भी छद्मस्थ ऐसा दावा नही कर सकता कि उसे किसी प्रकार की शंका ही नहीं है। अगर वह अपनी शका को किसी विशेषज्ञ के सामने व्यक्त नही करता और ज्यों की त्यो वनाये रखता है तो वह सशयशील वन जाएगा। कहा है—

सशयात्मा विनश्यति।

जैसे तैल समाप्त होने पर दीपक बुझ जाता है, उसी प्रकार सम्यक्त्व के पर्याय कम होते-होते सशयशील का समकित रूपी दीपक बुझ जाता है।

चाँदी, सोने, गेहूँ, चना आदि का भाव पूछने मे आपके अहकार को ठेस नही लगती। संकोच का अनुभव भी नही होता। उसे जानने के लिए अखवार मगवाते हो और रेडियो सुनते हो। अधिकाश लोग वाज़ार भाव जानने के लिए ही अखवार खरीदते और पढते है। इस प्रकार दुनियादारी की वस्तुओ के लिए तो वाज़ार मे घूमते फिरते है, मगर आत्मज्ञान की वृद्धि के लिए किसी ज्ञानवान् से पूछने मे शर्म आती है! सिनेमा देखने मे, होटल में खाने-पीने मे, जुआ खेलने मे और इसी प्रकार के दूसरे अनुचित कृत्य करने मे शर्म नही आती, मगर धर्म की वात पूछने मे शर्म आती है।

कोई साधु जी ग्रीष्म ऋतु मे विहार करके आ रहे थे। मार्ग में किसी वृक्ष के नीचे वैठ कर जल पीने लगे। गर्मी मे चलने से वे थक गये थे, अतएव वृक्ष की छाया मे थोडी देर सुस्ताने लगे। उसी

मार्ग से एक पथिक निकला और वह आगे वढ गया। वह उसी गाँव जा रहा था, जहाँ साधु को पहुँचना था। जव पथिक गाँव के निकट पहुँचा तो कुछ भक्तो ने, जो साधु की प्रतीक्षा कर रहे थे, उससे पूछा—क्या हमारे गुरु जी आ रहे है? पथिक ने उत्तर दिया—हाँ, तुम्हारे गुरुजी नदी मे पानी पी रहे थे।

यह उत्तर सुन कर कई लोगो को शका हो गई कि हमारे जैन साधु तो नदी तालाव आदि का कच्चा पानी नही पीते है, यह यह कहता है, वे नदी मे पानी पी रहे थे।

सज्जनो! पवन रोका जा सकता है पर वात रोके नही रुकती। ज़रा-सी देर मे विजली के वेग की तरह सारे गाँव मे यह वात फैल गई कि गुरुजी ने नदी मे पानी पिया है! लोगो ने मिल कर निश्चय कर लिया कि साधु के आने पर नमस्कार न किया जाय क्योंकि उन्होने अपना नियम भग किया है।

थोडी देर वाद साधुजी आये तो किसी भी भक्त ने उन्हे वन्दन-नमस्कार नही किया। भक्तो का यह आश्चर्यजनक रुख देख कर साधुजी सोच-विचार मे पड गये। उनकी समझ मे नही आया कि किस कारण से लोग ऐसा व्यवहार कर रहे हैं।

आज तो लोग यह जानते हुए भी कि अमुक साधु स्वार्थी है, साधु के आचार-विचार से रहित है और उसमे साधुता का लक्षण नही है, उसे नमस्कार करते है और उसकी वडी प्रशसा करते है। इसके विपरीत, शुद्धाचारी साधु के पास कई लोग फटकते भी नही हे। जो गडा दे तावीज दे, अक वता दे, सट्टा वतला दे, उसके पास भागे-भागे जाते हैं और जो आत्मज्ञान की वाते वतलाता है, उसके पास जाना पसन्द नही करते।

साधु सम्मेलन ने नियम बनाया है कि साधुओ को ज्योतिष का प्रयोग नही करना चाहिए, अर्थात् ज्योतिष के द्वारा भाव-ताव आदि न बतलाए जाएँ। पर गुरुजी एकान्त मे पत्रा लेकर ले जाते हैं, और अपने प्रेमपात्र भक्त की कामना पूरी करते है। उनका बतलाया भविष्य कहाँ तक सच्चा होता है अथवा नही होता, यह अलग बात है, परन्तु शास्त्र विरुद्ध यह व्यवहार चल रहा है। ऐसा करने वाले साधु अपराधी हैं और जो गृहस्थ पूछते है वे भी अपराधी है। श्रावक का उत्तरदायित्व कम नही है। भगवान् ने श्रावक को भी श्रमणसघ मे सम्मिलित कर के जो गौरव प्रदान किया है वह इसीलिए कि उसे साधु के सयमनिर्वाह मे साधक-सहायक होना चाहिए। परन्तु आज तो बहुत-से श्रावक कहलाने वाले लोग साधु-धर्म मे साधक बनने के बदले बाधक बनते हैं। स्वय डूबते और साधु को भी डुबाते है।

कदाचित् मान लिया जाए कि गृहस्थ श्रावक दुनियादारी मे रचा-पचा होने के कारण, लोभ और तृष्णा के वशीभूत होकर साधु से ऐसी बातें पूछता है, परन्तु साधु को इस झझट मे पडने की क्या आवश्यता है ? उसने घर-द्वार छोड कर सिर मु डवाया है सो क्या इसीलिए ? अगर दुनियादारी के झगडो मे फँसे रहना है तो फिर साधु बनने की क्या आवश्यकता है ? साधु-सस्था को कलकित करना कोई साधारण अपराध नही है।

आप को भलीभाँति समझ लेना चाहिए कि साधु छोकरा, छोकरी या रुपया-पैसा नही दे सकता। इन सब वस्तुओ की प्राप्ति कर्मानुसार ही होती है। अतएव इनके लिए साधु के पास मत जाओ। साधु को इस झगडे मे मत डालो। ऐसे कृत्य साधुधर्म के विरुद्ध हैं और शास्त्र मे इनका स्पष्टरूप मे निषेध किया गया है। कहा

जे लक्खण सुविणति अगविज्ज च जे पउजति ।

न हु ते समणा वुच्चति एव आयरिएहिमक्खाय ।।

अर्थात् जो साधु होकर लक्षण, स्वप्न या अगविद्या का प्रयोग करते हैं, वे सच्चे श्रमण नही कहलाते, ऐसा धर्माचार्यो ने कहा है ।

वे सच्चे साधु नही हैं जो गृहस्थ के पथ पर चलते है । सयम, तप, सरलता, चारित्र आदि साधु के गुण है । सरलतापूर्वक निर्जरा के लिए किये जाने वाले तप मे अनायास ही लब्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं, मगर साधु लब्धियो की प्राप्ति के लिए तप नही करता । दशवैकालिकसूत्र मे कहा है —

नो इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नो पर लोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नो कित्तिवण्णसद्दसिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा ।

अर्थात्—इस लोक सवधी या परलोक सवन्धी लाभ के लिए तपस्या नही करनी चाहिए और न यश-कीर्त्ति के लिए तपस्या करनी चाहिए । सिवाय निर्जरा के किसी भी अन्य प्रयोजन के लिए तपस्या करना साधु के लिए योग्य नही है ।

तपस्या कर्मनिर्जरा का असाधारण कारण है । जन्म-जन्मान्तर के कर्मो की निर्जरा तपस्या से ही होती है । पूर्ण निर्जरा न होने तक ही ससार है । समस्त कर्मो की पूरी निर्जरा हुई कि वही मोक्ष है । यही साधु की समग्र साधना का एकमात्र लक्ष्य है । साधु की जितनी भी क्रियाएँ है, सब कर्मो का क्षय करने के लिए ही हैं। अतएव उसे सवर और निर्जरा के ही मार्ग पर चलना चाहिए ।

गृहस्थो को भी चाहिए कि वे साधु को सयम के पथ से च्युत करने का प्रयत्न न करे और यह समझ ले कि अन्तराय तोडने से ही धन की प्राप्ति होगी ।

पजाब प्रान्त मे कसूर नामक शहर मे एक श्रावक थे। नाम था उनका हरजसराय। वह सस्कृत और प्राकृत भाषाओ के ज्ञाता थे। उन्होने तीन ग्रन्थो की रचना की है—देवरचना, देवाधिदेवरचना और साधुगुणमाला। उनकी रचनाएँ उच्चकोटि की है, उन्हे हरएक नही समझ सकता। सस्कृत और प्राकृत भाषा मे उन्होने कविताएँ भी लिखी है।

इस प्रकार हरजसराय को ज्ञान की प्राप्ति तो अच्छी हुई थी परन्तु धन प्राप्ति के अन्तराय को न तोड सकने के कारण उनकी आर्थिक स्थिति अच्छी नही थी। घर मे हमेशा पैसे की तगी रहती थी। फिर भी वह चिन्तारहित थे। कई लोग अर्थाभाव से पीडित होकर धर्म-कर्म छोड़ बेठते है और धर्म को अपने कष्टो का कारण बतलाने लगते है। कहते है—मैं तो धर्म करने से दु खी हो गया।

मनुष्य का यह एक बड़ा भ्रम है। धर्म कदापि किसी कष्ट का कारण नही हो सकता। कोई भी मनुष्य धर्म से दु खी नही होता, पूर्वकर्मोदय से दु:खी होता है। शास्त्र मे कहा है—'धम्मो मगल-मुक्किट्ठ।' अर्थात् धर्म सर्वश्रेष्ठ मगल है। धर्म से अमगल होना उसी प्रकार असभव है, जिस प्रकार चन्द्रमा से अग्नि की वर्षा होना असभव है। धर्म से सब प्रकार के कष्टो का निवारण होता है। अत-एव जब कोई कष्ट आ पडे तो विशेष रूप से धर्म का आचरण करना चाहिए, न कि धर्म का परित्याग कर देना चाहिए। आग लगने पर पानी अधिक डालना पड़ता है।

किसी भी प्रकार का सकट आने पर सम्यग्दृष्टि सोचता है—पूर्वकाल मे धर्म का आचरण करने मे जो प्रमाद किया है, उसके

फलस्वरूप ही यह सकट आया है। इस सकट का अन्त धर्माचरण से ही होगा। इस प्रकार विचार करके सम्यग्दृष्टि समभाव के साथ कष्टो का सामना करता है। वह जानता है कि रोने-धोने मे, हाय-हाय करने से और आकुल-व्याकुल होने से सकटो की भीषणता वढ जाती है, वे अधिक दुखप्रद हो जाते हैं और नवीन कर्मो का वध होता है। अनाथी मुनि और सनत्कुमार ने जिस प्रकार समभाव से दुख सहन किया, उसी प्रकार का समभाव धारण करने से भविष्य उज्ज्वल, मगलमय और सुखमय वनता है।

कई लोग मौलवी के पास भागे-भागे जाते हैं और उससे वच्चे के मुख मे फूंक मरवाते है। वे समझते है कि ऐसा करने से उनका वच्चा सव सकटो से सुरक्षित हो जाएगा। यह कैसी विडम्वना है। जो लोग मासभक्षण करते है और अडे खाते है, उनके मुख से अशुद्ध हवा के सिवाय शुद्ध हवा कैसे आ सकती है?

गर्मी अधिक पडती है तो वच्चो की तो वात क्या, वडो-वडो को भी वडी देर तक नीद नही आती। उसकी पूर्त्ति प्रभात के समय होती है। जव प्रभात की शीतल वायु वहती है तो वच्चे छ-सात वजे तक सोते रहते है और अपनी नीद पूरी करते है। माता जाग जाती है, पर नीद के कारण वच्चा जागता नही है। वस, यही देख कर माता के सिर पर वहम सवार हो जाता है। वह पडौसिन को वुलाती है और यह निश्चय कर लिया जाता है कि वच्चे को कुछ हो गया है! वच्चा वोलता नही है न! न मालूम देवी का प्रकोप हो गया है।

—'कल क्या खाया था?'

'खीर खाई थी।'

'कहाँ खेलता रहा ?'

'पीपल के पेड के नीचे ।'

बस, अब सदेह ही क्या रहा ! खीर का खाना और पीपल के नीचे खेलना इस बात के प्रबल प्रमाण है कि बच्चे पर देवी का असर हो गया है ।

सज्जनो ! खीर तो खाने की ही वस्तु है, ईंट-पत्थर नही खाये जाते, और पीपल के नीचे छाया होती है, अतएव बच्चो का पीपल के नीचे खेलना भी कोई अस्वाभाविक बात नही है । मगर अपढ माता इन बातो पर विचार नही करती और झाडा देने वाले के पास भागी जाती है ।

बच्चे की नीद उडी और वह जाग गया । झाडा लगाने वाले ने कहा—देखो, मेरे झाड़ा लगाने से जाग गया ।

इस प्रकार की कुशकाओ से अनर्थ हो जाता है । धर्मात्मा जन कष्ट आने पर अधिक धर्म करते है । दुःख का मूल कारण कर्म है और उसे नष्ट करने के लिए धर्म ही अमोघ औषध है । यह समझना भ्रमपूर्ण है कि जड कर्म सुख-दुःख नही दे सकते । जड का अर्थ यही है कि उसमे चेतनाशक्ति नही है, यह अर्थ नही है कि उसमे कोई शक्ति ही नही है । जड पदार्थो मे विभिन्न प्रकार के स्वभाव है और शक्तियाँ भी है । मिर्च मे मुँह जला देने का स्वभाव है, नीम के रस मे कटुकता का स्वभाव है, जहर मे प्राणान्त कर देने का स्वभाव है, मिश्री मुँह मीठा कर देती है । कहाँ तक कहा जाय, जड पदार्थो की शक्तियो का हमे पद-पद पर अनुभव हो रहा है । उससे कौन मुकर सकता है ? इसी प्रकार कर्मो मे भी नाना प्रकार के स्वभाव

मौजूद हैं और आत्मा की सहायता पाकर वे भिन्न-भिन्न प्रकार का फल देते है।

मदिरा को यह ज्ञान नही है कि इस पुरुष ने मुझे पिया है, अत मै इसे वेभान कर दूँ। जहर नही जानता कि इसने मेरा भक्षण किया है, अतएव मैं इसे मार डालूँ, फिर भी जहर खाने वाला मर जाता है। इसी प्रकार जो जैसे कर्मो का बँध करता है, उसे वैसे ही फल की प्राप्ति हो जाती है।

इस प्रकार कर्मो को ही सासारिक सुख और दुख का कारण समझना चाहिए। ससार के अनन्तानन्त जीवो की क्षण-क्षण मे वदलने वाली मानसिक क्रियाओ का हिसाव-किताव रखने वाला कोई चित्रगुप्त या अन्य व्यक्ति नही है। यह हिसाव रखना किसी के लिए सभव नही है। कर्मसिद्धान्त को स्वीकार किए विना सारी व्यवस्था विगड जाती है। अतएव कर्मसिद्धान्त की वारीकियो को समझने का प्रयत्न करो और जव कोई भी सकट आवे तो उसे अपने ही कर्मो का फल समझ कर धैर्य एव समभाव से सहन करो।

आपको कर्मवाद का जो पाठ पढाया जा रहा है वह वीमारी के वक्त काम मे लेना चाहिए। कष्ट आने पर लोग धर्म से विमुख हो जाते है। परन्तु उन्हे समझना चाहिए कि अग्नि का तीव्र ताप सहन करने के पश्चात् ही स्वर्ण शुद्ध होता है।

कई लोग कहते है कि पापी तो मोटरो मे सैर करते है और शानदार वायु-अनुकूलित वगलो मे मोज उडाते है, और धर्मात्मा दुखी होकर मारे-मारे फिरते है। परन्तु सोचना चाहिए कि परीक्षा पढने वाले की होती है, गदहे चराने वाले की नही होती। फूल को कष्ट सहन करना पडता है, काटे को नही। इत्र फूलो का वनता

है। फूलो की ही माला वनाई जाती है और जव वह माली की सुई की नौंक सहन करते है तभी वादशाह के गले से लग पाते है।

दु ख से घवडाना ही दु खानुभूति का कारण है। दु ख मनुष्य की सहनशीलता की परीक्षा है। जो वीर पुरुष दु ख के साथ दृढता-पूर्वक जूझता है, वही दु ख पर विजय प्राप्त कर सकता है। दु ख परीक्षा है और परीक्षा के अवसर पर घवड़ाना उचित नही है। जिनका पाठ कच्चा होता है, उन्ही को घवराहट होती है।

श्रावक हरजसराय धर्म के ज्ञाता थे। वह दरिद्र होने पर भी दु खी नही थे। कहा करते थे—धन तो कई वार मिला पर धर्म नही मिला। धर्म ही उत्तम वैभव है, जिसके मिलने पर ससार का सार मिल जाता है।

चार प्रकार की सुखशय्या वतलाई गई है, जिसमे प्राप्त वस्तु मे सतोप करना भी एक सुखशय्या है। लोभी को सुख की प्राप्ति नही होती। उसके पास कितनी ही सुख-सामग्री क्यो न हो, वह तृष्णा की आग मे जलता ही रहता है। एक वस्तु की इच्छा पूरी हुई या नही हुई कि दूसरी अनेक इच्छाएँ उत्पन्न हो जाती है और वे उसे परेशान करती है। अतएव लोभी मनुष्य को कभी शान्ति नही मिलती। शान्ति का वास सन्तोप मे है, तृष्णा मे नही । कहा है—

> सतोपामृततृप्ताना, यत्सुख शान्तचेतसाम्।
> कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम्॥

अर्थात् जो पुरुप सन्तोष रूपी सुधा का पान करके तृप्त हो चुके है और इस कारण जिनका चित्त शान्त हो गया है, वह सुख

धन के लोभी और इधर-उधर मारे-मारे फिरने वाले लोगो को कहाँ नसीव हो सकता है ?

हाँ, तो एक वार हरजसराय के नगर मे मुनि पधारे। उनका व्याख्यान हो रहा था और श्रोता मन लगा कर सुन रहे थे। मुनि उस श्रावक हरजसराय का मकान देख चुके थे। उसकी हालत देख कर सरागसयमी मुनि के मन मे अनुकम्पा उत्पन्न हुई। व्याख्यान मे कुछ ऐसा ही प्रकरण छिड गया। गृहस्थ के मतलव की वात आ गई। शास्त्र मे अक्षय भडार भरा है—सभी कुछ मौजूद है। पुण्यवान् के लिए 'सकल पदारथ हैं जग माही।'

किसन लाल जी महाराज के पहले पूज्य श्री नन्दलाल जी के साथ चम्पालाल जी म० का उदयपुर मे चौमामा था।

पजाव के श्री छोटेलाल जी महाराज का चौमासा भी वही था। श्री चम्पालाल जी और छोटेलाल जी महाराज दोनो जगल के लिए पहाड़ पर गये तो आपने अर्थात् चम्पालाल जी महाराज ने छोटेलाल जी म० से कहा—यह वूटी है जो लोहे पर गिर जाय तो सोना वन जाय।

अभिप्राय यह है कि साधु दुनियादारी के झगडो मे पडता नही है, यद्यपि दुनिया मे वस्तुओ की नास्ति नही है।

मालवा मे पीपलिया नामक एक स्टेशन है। वहाँ पाकिस्तान से भाग कर एक सिक्ख आया। उसे जगल मे स्लेट-पैंसिल वनाने की खान मिल गई। खान तो पहले भी थी और दूसरे लोग भी वहाँ रहते थे, परन्तु अन्तराय टूटने से उसे मिल गई। पाकिस्तान से आना उसके लिए लाभजनक हो गया।

तो उन मुनि जी ने कहा—श्रावक जी, यह पाठ ध्यान से सुनो। उन्होने अपनी यह बात तीन बार दोहराई।

श्रावक ने कहा—महाराज, सुना है। पहले बाचा भी है। इसका मतलब भी जानता हूँ। शास्त्र मे सभी कुछ है। परन्तु मेरे अनुकूल कर्म का उदय नही है। आपकी कृपा के लिए अनुगृहीत हूँ, परन्तु ऐसा संबोधन न करे। मेरे निमित्त से आपके सयम मे दोष लगे, यह मै नही चाहता। लक्ष्मी तो आती और चली जाती है। वह सीता, द्रौपदी या राजीमती नही है। स्वभाव से ही चपला—चचला है। वेश्या के समान है। पुण्यवान् के पास चली जाती है और पुण्य क्षीण होने पर छोड जाती है। गुरुदेव! आप इसके लिए आलोचना कीजिए।

राजकोट के श्रावको! ध्यान से सुनो और विचार करो। तुम्हे ऐसा कोई मिल जाय तो क्या हरजसराय के समान निस्पृहता प्रदर्शित कर सकोगे? मगर सच्चे श्रावक का यही आदर्श है।

लोभ-लालच का त्याग करना बहुत कठिन है। इसके आगे ऋषि-मुनि भी हार मान बैठते है। लोग साधु को प्रत्यक्ष देखते हुए भी नमन नही करते और ढोगी-दभी के चरणो मे सिर झुकाते है। 'आडम्बरेण पूज्यते लोक' अर्थात् आज सद्गुणो की तो पूछ नही है, ढोग की पूजा होती है। असली के ग्राहक कोई विरले मिलते है, इमीटेशन के ग्राहक बहुत हैं।

श्रावक का कर्त्तव्य है कि वह साधु के प्रति विनम्र होता हुआ भी अगर उनकी कोई त्रुटि देखे तो स्पष्ट कह दे। सद्भावनापूर्वक उनका दोष उन्हे बतलावे। सारणा-वारणा होती रहे तो जिनमार्ग दूषित न हो। परस्पर मे साधु श्रावक के और श्रावक साधु के धर्म-

पालन मे सहायक वने। यही चतुर्विध सघ की स्थापना का उद्देश्य है।

श्रावक हरजसराय ने कहा—यह दोनो घर का दिवाला निकालने की वात है। मुझे कर्मसिद्धान्त पर विश्वास है। लाभान्तराय कर्म का क्षयोपशम होने मे द्रव्य को अनायास ही प्राप्ति हो जाती है और यदि वह न हुआ तो दिन-रात भागदौड करने पर भी कोई लाभ नही होता। यह एक ऐसा तथ्य है जो दुनिया मे सर्वत्र देखा जा सकता है।

स्वार्थ, दुर्जनता आदि कई कारणो मे लोग साधु सतो को भी झूठा कलक लगा देते है। ऐसे समय विवेकशील लोगो का कर्त्तव्य है कि वे सत्य की खोज करे, वास्तविकता की जॉच करे और पूछताछ करके शका का निवारण करे।

नदी मे साधु ने पानी पिया, यह वात उस गाँव मे फैल गई। जव तक इसका निर्णय न होगया, भ्रम वना ही रहा। अवसर आने पर एक साधु ने श्रावक से कहा—मिथ्या वात का प्रचार क्षय के कीटाणुओ की तरह वहुत होता है। तव श्रावक ने कहा—आप के विषय मे भी वात फैली है कि आपने नदी मे पानी पिया है। यह वात एक विश्वासपात्र व्यक्ति ने कही है। परन्तु कहॉ तक सत्य या असत्य है, यह नही कह सकता।

श्रावक की वात सुनकर साधु समझ गये कि यहॉ के लोगो ने वन्दन-नमस्कार नही किया, इसका कारण यही मिथ्या प्रचार है।

आखिर जव छानवीन की गई तो पता चला कि जिस नदी का पानी पीने की वात कही गई है, उसमे तो पानी ही नही है। वह सूखी पडी है। महाराज ने पेड के नीचे वैठ कर अपने पात्र का पानी पिया है। जिस व्यक्ति ने यह वात फैलाई थी, उसे वुलाया गया तो

उसने कहा—मैंने तो महाराज को पानी पीते देखा था। सोचा—नदी का पानी होगा। मैंने नदी का पानी लेते और पीते नही देखा।

लोगो ने अपनी भूल स्वीकार की और मुनियो का यथोचित विनय न करने के लिए पश्चात्ताप किया।

तो अभिप्राय यह है कि जब किसी विषय मे शका उत्पन्न हो तो उसे हृदय में छिपा कर नही रखना चाहिए, बल्कि उचित रूप से प्रकट करके उसकी यथार्थता-अयथार्थता का निर्णय कर लेना चाहिए।

बात कर्मों की चल रही थी। कर्म जड है तो उनमे फल देने की शक्ति किस प्रकार हो सकती है, यह मैं सक्षेप मे बतला चुका हूँ। यह भी कह चुका हूँ कि ज्ञान अलग है और शक्ति अलग है। जड मे ज्ञान नही, यह सत्य है, परन्तु शक्ति नही, यह कहना या समझना मिथ्या है। हम लोगो के शरीर पर सुख-दुख का जो असर होता है, वह जडकृत ही है। पुद्गल का पुद्गल पर प्रहार होता है और सयोग के कारण आत्मा को उस सुख-दुख की अनुभूति होती है। मिस्री को मालूम नही कि मैं मीठी हूँ। उसे यह भी ज्ञान नही कि मैं खाने वाले का मुँह मीठा कर देती हू अथवा मुझे ऐसा करना चाहिए। तथापि मिस्री से मुँह मीठा हो जाता है। यह उसकी शक्ति है।

जहर खाने वाले को कौन फल देता है? क्या ईश्वर फल देने के लिए आता है? नही।

मैं बढाऊ ज्योति अजन चाहता न कदापि है,
किन्तु सेवन से दृगो की शक्ति बढती आप है।

जड पदार्थो मे भी अपनी-अपनी शक्तियाँ विद्यमान है। ईश्वर के निमित्त के विना ही जहर खाने वाला जहर की शक्ति से मर जाता है। इसी प्रकार अशुभ कर्मो मे दु ख देने की और शुभ कर्मो मे सुख देने की शक्ति है। जैसे जहर मुख मे डाले विना फल नही देता, उसी प्रकार कर्म भी योग और कपाय से ग्रहण किये विना फल नही देते। एटमवम लाखो को मार डालता है, परन्तु उसका प्रयोगकर्त्ता मनुष्य है। कर्मो का प्रयोगकर्त्ता भी आत्मा है। आत्मा कर्मो को ग्रहण करता है वध करता है, तव फल मिलता है।

इस प्रकार विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि यह आत्मा कर्मो के कारण ही सुख-दु ख का भाजन वनती है। कर्म ही जन्म-मरण के कारण है। कर्मो का समूह रूप कार्मण शरीर जवतक आत्मा के साथ लगा है तवतक आत्मा स्वर्ग-नरक आदि गतियो मे भ्रमण करता ही रहेगा। कर्मो के अतिरिक्त ईश्वर जैसी कोई शक्ति उसे सुख-दु ख देने वाली नही है।

अव यह प्रश्न शेष रह जाता है कि अनादि काल से आत्मा के साथ सवद्ध कर्मो का विनाश किस प्रकार हो सकता है? इस सवन्ध मे यही कहना पर्याप्त होगा कि जो अनादि कालीन है वह अनन्त भी होना चाहिए, ऐसा कोई नियम नही है। प्रागभाव आदि कुछ ऐसी वस्तुएँ भी है जो अनादि होने पर भी नष्ट हो जाती है। फिर कोई एक कर्म ऐसा नही जो अनादि से आत्मा के साथ वँधा हो। प्रत्येक कर्म की आदि है, केवल कर्मो का प्रवाह ही अनादिकालीन है।

जैसे तेज तूफान से वादल विखर जाते है और चन्द्रमा की स्वाभाविक ज्योति प्रकाशित हो उठती है, उसी प्रकार ध्यान, भावना, तपस्या आदि कर्मविरोधी कारणो की प्रवलता से कर्मो का

समूह भी नष्ट हो जाता है। कर्मो का नाश होने का अभिप्राय यह नही कि वे सत् से असत् हो जाते है। कोई भी पदार्थ जिसकी सत्ता है, कदापि असत्—शून्य रूप नही होता। कर्म भी शून्य नही बन जाते, सिर्फ उनकी कर्म रूप पर्याय बदल जाती है। जीव पर उनका कोई असर नही रह जाता। उस समय आत्मा अपने असली रूप मे प्रकाशित हो उठता है। यही आत्मा की मुक्ति है।

अनादिकाल से अनन्त-अनन्त आत्माओ ने इस प्रकार की मुक्ति प्राप्त की है और शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त किया है। आप भी पुरुषार्थ करके अपनी आत्मा को विशुद्ध बना सकते है और परमात्मपद प्राप्त कर सकते है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि शास्त्रोक्त आचार को अपनाएँ, अपनी भावना को सदा पवित्र रक्खे और जीवन को सयममय बनाएँ। विषय-विकार से दूर होकर आत्मा मे ही रमण करने का प्रयत्न करे।

जो भव्य प्राणी ऐसा करते हैं, वे ससार सागर को पार करके अनन्त सुखो के पात्र बनते है।

राजकोट
१८-८-५४

मुक्ति का महामार्ग

अरिहन्त अरिहन्त० ।

चौवीसवे तीर्थंकर जगदुद्धारक भगवान् महावीर ने स्वय अपना कल्याण किया और दूसरो को भी वतलाया कि अगर अपने दु खो का अन्त करना चाहते हो तो उसी मार्ग का अनुसरण करो जिसका मैने अनुसरण किया है। मैं जिस मार्ग पर चला हूँ, उसी पर चलने से तुम्हारे कष्टो का अन्त होगा। यह मार्ग कोई नूतन मार्ग नही है। पहलेपहल मैंने ही इसका अन्वेषण किया हो, ऐसा नही है। अनन्त आत्माएँ अतीत काल मे इस मार्ग पर चल चुकी है और असीम आनन्द की उपलब्धि कर चुकी है। आत्मकल्याण का यही एक मार्ग है, अतएव सभी सर्वज्ञो ने इसी मार्ग पर चलकर अपना हितसाधन किया और यही मार्ग दूसरो को वतलाया है। आचारागसूत्र की स्पष्ट घोषणा है—

पणया वीरा महावीहिं ।

वीर पुरुष इसी महामार्ग पर चले है।

इस प्रकार कह कर भगवान् ने जहाँ हमारा पथप्रदर्शन किया वही यह भी प्रकट कर दिया कि यह मार्ग कोई अपरिचित या अक्षुण्ण मार्ग नही है। जाना-पहचाना मार्ग है। अतएव इस पर चलने मे शका के लिए कोई अवकाश नही है।

जो सत्य है वह त्रिकालावाधित है। पूर्ण ज्ञानियो मे मतभेद

नही हो सकता। वे उसी एक सत्य का अनुभव करते और प्रकाश करते है। शास्त्र कहता है—

'जे अतीता, जे य अणागया, जे य पडुप्पन्ना, सव्वे ते एवमाहंसु।'—आचाराग।

जो तीर्थंकर भूतकाल मे हुए है, जो वर्तमान काल मे है और जो भविष्य मे होंगे, उन सब का यही एक कथन है। इसमे कुछ भी अन्तर नही है।

सिद्धान्तो मे हेराफेरी के लिए कोई गुंजाइश नही है। जहाँ खोट होती है वहाँ पर ही हेराफेरी होती है। निर्ग्रन्थप्रवचन मे वक्रता नही होती। वचन की प्रमाणता वक्ता की प्रमाणता पर निर्भर है। वक्ता अगर सर्वज्ञ और वीतराग हो तो उसकी वाणी मे अयथार्थता नही हो सकती। अल्पज्ञानी और कपायी जीव ही अज्ञान और राग-द्वेप से प्रेरित होकर मिथ्या भापण करते है। जिसे वस्तु का यथार्थ स्वरूप ज्ञात है और जो निर्विकार होने के कारण यथार्थता को छिपाना नही चाहता, उसके कथन मे अयथार्थता किस प्रकार आ सकती है?

तीर्थंकर भगवान् की एक वडी विशेपता यह है कि वे अपने जीवन के साधनाकाल मे, जवतक सर्वज्ञता का लाभ नही कर लेते, तव तक उपदेश नही देते। सर्वज्ञ-सर्वदर्शी होने के पश्चात् ही वे तत्त्व का उपदेश करते हैं और तीर्थ की स्थापना करते है। यही कारण है कि उनकी वाणी सौ विश्वा सत्य ही होती है। युक्ति और तर्क से उसमे वाधा नही हो सकती। उसमे पूर्वापर विरोध भी नही हो सकता।

इसके विपरीत जिस आत्मा मे वक्रता होती है तो उसकी वाणी और व्यवहार मे भी वक्रता होती है। जैसा मार्ग होता है, पानी की गति भी वैसी ही होती है। मार्ग सीधा है तो पानी भी सीधा चलेगा। मार्ग टेढा है तो पानी की गति भी टेढी होगी।

प्रत्यक्ष देखा जाता है कि जिस मनुष्य मे कुटिलता होती है, उसके वचन और व्यवहार भी प्राय कुटिल ही होते है । जिस वस्तु को प्राप्त करने के लिए कुटिल पुरुष प्रयास करता है, वह अगर सीधी तरह उसे न मिले तो वह फिर टेढा-मेढा मार्ग अगीकार करता है।

लोभ न हो तो माया—कपटाई भी नही रह सकती। लोभ माया के विना रह सकता है, पर माया लोभ के विना कदापि नही रह सकती। माया लोभ की आड मे ही रहती है। माया के होने पर लोभ की नियमा है और लोभ के होने पर माया की भजना है। लोभ कपाय सूक्ष्मसाम्पराय नामक दसवे गुणस्थान तक रहता है, परन्तु माया दसवे गुणस्थान मे नही होती।

साम्पराय का अर्थ कपाय है। सूक्ष्मसाम्पराय का आशय यह है कि इस गुणस्थान मे सिर्फ लोभ का सूक्ष्म अश ही विद्यमान रहता है।

लोभ सव कषायो मे जवर्दस्त है। क्रोध, मान और माया का नाश हो जाने पर भी लोभ आत्मा के साथ चिपटा रह जाता है और वडी कठिनाई से, खड-खड करने पर उसका अन्त होता है। कभी-कभी लोभ आत्मा मे छिपकर, दुवक कर अर्थात् उपशान्त होकर रह जाता है और आत्मा ग्यारहवे गुणस्थान की श्रेणी पर आरूढ हो जाता है। मगर यह लोभ वहाँ अपना सिर उठाता है और इतने

ऊपर उठे आत्मा को घसीट कर नीचे ले आता है। यहां तक कि प्रथम गुणस्थान तक पहुँचा देता है।

> प्राप्योपशान्तमोहत्त्व, क्रोधादिविजये सति।
> लोभाग्रमात्रदोषेण, पतन्ति यतयोऽपि हि।

एक महामुनि उपशान्तमोह अवस्था को प्राप्त हो गया है। उस ने सम्पूर्ण मोहनीय कर्म का उपशम करके ग्यारहवां गुणस्थान पा लिया। क्रोध आदि सभी कषायो का उपशम कर दिया। परन्तु उस को लोभ के अंश का उदय होता है और उसकी बदौलत ही वह नीचे गिर जाता है। यह है लोभ का कटुक और अतिभीषण विपाक! ठीक ही कहा है—

> जनक सर्वदोषणा, गुणग्रसनराक्षस।
> कन्दो व्यसनवल्लीना, लोभ सर्वार्थबाधक॥

लोभ समस्त दोषो का जनक है। लोभ से पीडित जीव सभी पापो का सेवन करने को उद्यत हो जाता है। उसमे कोई भी दोष उत्पन्न हो जाता है। लोभ वह राक्षस है जो समस्त गुणो को भक्षण कर लेता है। लोभ के प्रभाव से मनुष्य को नाना प्रकार के सकट उठाने पडते हैं, अतएव वह व्यसन रूपी बेलो का मूल है।

अन्य कषायो का स्थान तो नियत है परन्तु लोभ ने सारे विश्व मे अपनी सत्ता जमा रक्खी है।

क्रोध का केन्द्रस्थान आँख और मस्तक है। क्रोध विकार जागृत होते ही आँखे लाल हो जाती हैं और ललाट पर सलवट पड़ जाती हैं, जैसे बूढी भैंस का चमडा सिकुड़ जाता है। यह क्रोध की निशानी है। जब किसी के चेहरे पर यह भाव प्रकट होते हैं तो लोग

कहते है—आंखे बदल गई, अब इससे बात मत करो। सौम्य भाव चला गया। दृष्टि मे क्रूरता आ गई। रगत कुछ की कुछ हो गई। पहले मुखमडल मे चन्द्रमा के समान शान्ति झरती थी, अब अगारे प्रकट हो रहे है। दृष्टि-विप-सर्प क्रोध से अभिभूत होकर देखने मात्र से दूर-दूर के जीवो को भस्म कर देता है। क्रोध के पुद्गलो मे उष्णता होती है। जब क्रोध उत्पन्न होता है तो सारा शरीर तप जाता है। शान्तिरस भग हो जाता है। क्रोधी जीव नही देखता कि मुझे किससे क्या कहना चाहिए और क्या नही कहना चाहिए ? यह मेरा पूज्य है, गुरुजन है या कौन है ? परिणाम पर विचार करने की उसकी शक्ति नष्ट हो जाती है। उसका विवेक विलुप्त हो जाता है। वह यद्वा-तद्वा कुछ भी कह डालता है। परिवार के तथा पडौस के लोगो को दुखी बनाता है और स्वय भी दुखी होता है। वह स्वय जलता और दूसरो को जलाता है।

क्रोध भयकर विष है। सखिया विष है, अफीम विष है और पारा आदि भी विप हैं। सर्प और बिच्छू आदि मे भी विप होता है। मगर क्रोध-विप का मुकाबिला किसी भी विप से नही किया जा सकता। क्रोध सब से बडा विष है। भौतिक विप एक बार मार सकता है, परन्तु क्रोध-विप न जाने कितनी बार मारता है। सखियादि द्रव्यविप केवल द्रव्य प्राणो को ही हानि पहुँचाता है, क्रोध-विप तो ज्ञानादि भाव प्राणो को भी हानि पहुँचाता है।

सास-बहू, देवरानी-जिठानी, भाई-भाई आदि के झगडे मे क्रोधी विष खाकर मर जाता है, कूंप मे कूद पडता है और अपने जीवन को नष्ट कर देता है। शास्त्र मे कहा है कि क्रोध के आवेश मे आत्मघात करने वाला महापापी है, बार-बार नियमो को भग करने वाला और विश्वासघाती भी महापापी है।

किसी को अमुक काम कर देने का विश्वास दिला करके ऐन मौके पर मुकर जाना कितनी बुरी बात है ! इसमे उस बेचारे का तीव्र आघात पहुँचता है। उसकी प्रतिष्ठा को धब्बा लगता है। उसकी सारी योजना गडबड मे पड जाती है। मान लीजिए, किसी धनी ने किसी को रुपये देने का विश्वास दिला दिया। मगर अवसर आने पर जब वह रुपये माँगने गया तो उसने देने से इकार कर दिया। यह विश्वासघात है। कभी-कभी इस प्रकार के विश्वासघात का परिणाम अत्यन्त करुणाजनक होता है। विश्वासघात का शिकार हुआ मनुष्य अपने प्राणो का उत्सर्ग कर देता है। कभी-कभी उसका हार्ट फेल हो जाता है। अत विश्वासघात करना भी महापाप है।

विश्वासघात के समान कूटसाक्षी अर्थात् झूठी गवाही भी महापाप है। किन्तु खेद है कि आजकल धड़ल्ले के साथ यह पाप किया जा रहा है। कई लोगो ने अपना धन्धा ही गवाही देना बना लिया है। वे अदालतो के चक्कर काटते रहते है और जिसे कोई गवाह नही मिलता, झट कुछ पैसे लेकर उसके गवाह बन जाते है। उन्हे झूठी गवाही देने मे कोई सकोच नही होता। परन्तु वे अपराधी को निरपराध और निरपराध को अपराधी प्रकट करके न्याय की पवित्रता को कलकित करते है। यह भी महापाप है।

कृतघ्न भी महापापी है। जो दूसरे के किये उपकार को भूल जाता है वह कृतघ्न कहलाता है।

हाँ, तो मैं कह रहा था कि क्रोध बहुत बडा पाप है। बडे-बडे महात्मा भी इसे सहज मे वशीभूत नही कर पाते।

एक गुरु थे और उनका एक शिष्य था। गुरु शिष्य को साधु

की रीति सिखाने के अभिप्राय से वार-वार टोका करते थे। शिष्य गुरु की शिक्षा की परवाह नही करता था। शास्त्र मे कहा है—

अह पचहिं ठाणेहिं, जेहि सिक्खा न लब्भई।
थंभा कोहा पमाएण, रोगेणालस्सएण य॥

—उत्तराध्ययन, अ० ११, गा० ३.

निम्नलिखित पॉच दोप या पॉच मे से कोई भी एक दोष जिसमे होता है, वह शिक्षा प्राप्त नही कर सकता—

(१) स्तभ अर्थात् अहकार। अहकारी पुरुप मे नम्रता नही होती। गुरु के प्रति आदर का भाव नही होता। अतएव वह शिक्षा ग्रहण नही कर सकता।

(२) क्रोध—गुरु के द्वारा त्रुटि दिखलाने पर जो क्रोध से आगववूला हो जाता है, वह भी शिक्षा का पात्र नही।

(३) प्रमाद—प्रमाद का अर्थ यहाँ आलस्य नही लेना चाहिए। प्रमाद और आलस्य मे अन्तर है। प्रमाद आलस्य की अपेक्षा अत्यन्त भयानक दुर्गुण है। गौतम जैसे महान् साधक को भी भगवान् ने 'समय गोयम ! मा पमायए' कह कर सावधान किया है। वस्तुत प्रमाद मनुष्य का वडे से वडा शत्रु है। ससार-परिभ्रमण का कारण प्रमाद है। जन्म-मरण के दुख प्रमाद की ही कृपा के फल है। यह पचमुखी दैत्य है। कहा है—

मज्ज विसयकसाया, निदा विगहा य पचमी भणिया।
एए पच पमाया, जीव पाडेन्ति ससारे॥

अर्थात्—मद्य, इन्द्रियो के विषय, क्रोधादि कषाय, परकीय निन्दा और विकथा, ये पॉच प्रमाद है, जो जीव को जन्म-मरण के चक्र मे फँमाते है।

ये पाँच प्रमाद रूपी राक्षस के मुख है। जो मनुष्य इनमें से किसी भी एक मुख में पड़ जाता है, उसकी कुशल नहीं है। इनसे आत्मस्वरूप को देखने में मनुष्य असमर्थ हो जाता है।

पाँच इन्द्रियों के २३ विषय और २४० विकार हैं। विषयों मे अनुराग होना भी प्रमाद है। स्त्री कथा, भोजन कथा, देशकथा और राज कथा, यह चार विकथाएँ है। पानी को मथने से घी नही मिलता और रेत के लड्डुओं से मधुर आस्वाद नही मिलता। निस्सार और निष्प्रयोजन बातो से लाभ तो कुछ होता नहीं, स्वाध्याय, ध्यान आदि क्रियाओ मे विघ्न ही उपस्थित होता है। इन्द्रियो को उत्तेजना मिलती है और समय का दुरुपयोग होता है। मानव जीवन का काल परिमित है और उसका बहुत अधिक मूल्य है। धर्मक्रिया करने वाले ही इस समय को सफल करते है। कहा है—

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तइ।
अहम्म कुणमाणस्स, अफला जंति राइओ॥

अर्थात्—जो समय व्यतीत हो जाता है वह वापिस लौट कर नहीं आता। अधर्म का आचरण करने वाले का समय व्यर्थ ही व्यतीत हो जाता है। वह इस जीवन का कोई लाभ नही ले पाता। परन्तु—

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तइ।
धम्मं च कुणमाणस्स, सफला जंति राइओ॥

अर्थात्—जो समय जाता है, वह सदा के लिए ही चला जाता है। वह फिर कभी आता नहीं। परन्तु जो लोग धर्मक्रिया करते हैं, उनका समय सार्थक होता है।

यद्यपि ग्यारह मास वाद उसी नाम का महीना आ जाता है और छ दिन वीतने पर फिर वही वार आ जाता है, पर यह आना तो केवल मास और वारो के नामो का आना है। परन्तु इनका जो समय वीत गया वह समय फिर नही आता। थैली मिल गई पर रकम चली गई तो थैली लेकर क्या माथा फोडना है!

ज्ञानी जनो का कथन है कि अधर्म करने वालो की रात्रि अर्थात् समय निष्फल चला जाता है। वात वहुत विचारणीय है। शास्त्र का कथन है कि निंदादि अधर्म करने वालो का समय व्यर्थ ही व्यतीत होता है।

क्या उन्हे फल नही मिलता ? नही, फल तो मिलता है परन्तु सुख रूप फल नही मिलता। उत्तम नरभव पाकर जो सुफल प्राप्त करना चाहिए, उसमे वे वचित रहते है। वह सुहाग किस काम का जिसके पीछे दारुण दु ख अपने जवडे फाड कर खडा हो। मानव जीवन उनका सफल होता है जो धर्मसाधना करते है, सामयिक स्वाध्याय, ध्यान आदि क्रियाएँ करते है। ऐसे लोग अपने जीवन के दिवस और रात सफल करते है। उन्हे आत्महित रूप फल मिलता है।

समय दोनो का व्यतीत होता है परन्तु एक आत्मा का हित कर लेता है और दूसरा अहित करके अपने भविष्य को विगाड लेता है।

दो मनुष्य आजीविका के लिए निकले। एक ने नौकरी कर कर ली और जिस मिति से नौकरी की थी, उसकी नोध ले ली। उसने वुद्धिमत्ता से काम लिया और अपना वेतन तय कर लिया। अगर सेठ का मन वदल जाय, उसके मन मे वेईमानी आ जाय तो भी अपनी नोध के आधार पर वह अपना पैसा वसूल कर सकता है।

मन वदलते देर नहीं लगती। मन पानी की लहरो से भी अधिक चचल है।

मन मन है, सेर दो सेर नही—चालीस सेर का मन है। सेर सिंह को भी कहते हैं। उसे वश में करना कोई मामूली वात नही है। चूहे से भी डर जाने वाले लोगो के लिए शेर (सेर) को वशीभूत करना कितना कठिन है।

मन की गति चन्द्रमा, सूर्य, विद्युत्, पवन एव देव की गति से भी अधिक तीव्र है और अतिशय चपल है। कहाँ छव्वीसवाँ देवलोक और कहाँ जम्बूद्वीप? कुछ कम सात राजू का फासला है। परन्तु इस मन को छव्वीसवें देवलोक से जम्बूद्वीप मे आते-जाते पल भर भी नही लगता!

मन मनोवर्गणा के पुद्गलो से वनता है। इन पुद्गलो में अनूठी शक्ति है। सर्वार्थसिद्ध विमान के देव भगवान् से मन के द्वारा ही वात कर लेते हैं। वहाँ सव देव अहमिन्द्र है—पूर्ण स्वाधीन है। जैसे यहाँ राजा-प्रजा का, शासक और शासित का अन्तर है, वैसा वहाँ नही है। वहाँ सव स्वयप्रभु हैं। इसका कारण यही है कि वहाँ सव देव समभावी हैं, अतएव शासन की आवश्यकता नही है। शान्ति की रक्षा और न्याय-नीति की प्रतिष्ठा के लिए शासन की आवश्यकता होती है। मगर जव विना ही शासन के यह काम होता हो तो शासन की आवश्यकता नही रहती।

हमारे गुरु जी ने एक वार चित्तौड़ दुर्ग पर चौमासा किया था। उनका कहना था कि वहाँ सिर्फ कुत्ता-विल्ली से वचाव करना पड़ता है, मनुष्यो से नहीं, क्योंकि वहाँ चोर नही थे। भारतवर्ष मे किसी ज़माने मे घरों मे ताले तक नही लगाये जाते थे। युगलियो के

समय यहाँ कोई शासन व्यवस्था नही थी और न कोई दण्डव्यवस्था ही थी। धीरे-धीरे मानवप्रकृति मे विकार आया, उसकी आवश्यकताएँ बढी और सचयवृत्ति पनपी तो गड़बड होने लगी। तब 'हा' यह दडविधान किया गया। अपराधी को अगर 'हा' कह दिया जाता था तो उसे ऐसी पीडा होती मानो प्राणदण्ड दिया गया हो। जब इस दण्ड का प्रभाव घटा और लोग इसकी कम परवाह करने लगे तो 'मा' दण्ड प्रचलित हुआ। 'हा' इस दड मे अपराधी के कृत्य पर सिर्फ खेद प्रकट किया जाता था, 'मा' दड मे निषेध का भाव आ गया, अर्थात् अनुचित कृत्य करने की मनाई की जाने लगी। उस समय यही दण्ड पर्याप्त प्रभावकारी था। किन्तु लोगो की वृत्तियाँ शनै शनै गिरती ही जा रही थी, अतएव कुछ काल के पश्चात् यह दण्ड भी प्रभावहीन हो गया तो अधिक कठोर दण्ड की व्यवस्था की गई। वह कठोर दण्ड 'धिक्' था। अपराधी को उसके कृत्य पर धिक्कार दिया जाने लगा।

उस समय के मनुष्य इतने सीधे-सादे और लज्जाशील थे कि उनके लिए यही दण्ड पर्याप्त थे। शर्मदारो के लिए थोडा-सा दण्ड भी काफी हो जाता है। जिन्हे अपनी इज्जत का खयाल नही, जो वेशर्म है और जिनमे कुकृत्य करने की वृत्ति अपनी गहरी जड़ जमा चुकी है, उनकी बात निराली है। पक्के बेशर्म जेल जाने को भी ससुराल जाना कहते है। किन्तु कुलीन पुरुष को साधारण उपालभ ही काफी होता है और नग बादशाह के लिए डडो की मार भी कुछ चीज नही है। धृष्ट पुरुष धिक्कारो की भी परवाह नही करता जबकि लज्जाशील की तनिक कहने मात्र से आँखे नीची हो जाती है। जो उपालभ सुन कर हँस देता है, समझना चाहिए कि वह निर्लज्ज है और उसकी आत्मा गिर चुकी है। वह शिक्षा के योग्य नही है।

जहाँ लज्जा है वहीं अन्य गुण विद्यमान रह सकते हैं। भगवती दया भी लज्जा के साथ ही रहती है और सयम भी लज्जा के साथ ही रह सकता है। ब्रह्मचर्य भी लज्जावान् मे ही होता है।

तो अवसर्पिणी काल के प्रभाव से जब मनुष्यो की सख्या मे वृद्धि होने लगी और जीवनोपयोगी वस्तुओ की कमी पड़ने लगी तो छीना-झपटी, बलात्कार, लूट-खसोट आदि बुराइयाँ बढने लगी और ज्यो-ज्यो बुराइयाँ बढी त्यो-त्यो दड की कठोरता भी बढती गई। मगर दडव्यवस्था की कठोरता मनुष्य को पतन से बचा नही सकी। समाज की अपराधवृत्ति बराबर बढती ही रही। यहाँ तक कि प्राण-दण्ड लागू कर देने पर भी आज अपराध हो रहे है।

अभिप्राय यह है कि शासनव्यवस्था और दण्डव्यवस्था की आवश्यकता मनुष्य को नियत्रित रखने के लिए है। एक मनुष्य दूसरे के प्रति अत्याचार न करे, दूसरे के हक को न छीने, कोई किसी की स्वतत्रता मे बाधा न डाले, अमन-चैन मे विघ्न न पडे, इस प्रयोजन के लिए यह व्यवस्थाएँ है। मगर छब्बीसवे देवलोक मे यह बुराइयाँ है ही नही, अतएव वहाँ कोई शासनव्यवस्था नही, दण्डव्यवस्था भी नही। वहाँ के सभी देव 'अहमिन्द्र' है। उनका मोहनीय कर्म उप-शान्त रूप मे रहता है।

यहाँ प्रश्न किया जा सकता है कि उपशान्तमोह तो ग्यारहवाँ गुणस्थान है और अनुत्तर विमानो के देव सब चौथे गुणस्थान मे होते हैं। उन्हे उपशान्तमोह कैसे कहा जा सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि मोहोपशम के कई विकल्प है। जैसे प्रथम गुणस्थान से लेकर तेरहवे गुणस्थान तक शुक्ल लेश्या बतलाई गई है, मगर कहाँ मिथ्यादृष्टि की भावना और कहाँ सयोगकेवली की भावना ? कितना

वहुत अन्तर है दोनो के अध्यवसायो मे ? मगर जैसे प्रथम और तेरहवें गुगस्थान वालो की भावना मे अन्तर है, उसी प्रकार शुक्ल-लेश्या मे भी वहुत तारतम्य है। मिथ्यात्वी की शुक्ललेश्या और केवली की शुक्ललेश्या विशेष रूप मे विसदश होने पर भी सामान्य रूप से शुक्ल लेश्या ही कहलाती है, उसी प्रकार चतुर्थ गुणस्थानवर्त्ती अनुत्तरदेवो एवं ग्यारहवे गुणस्थानवर्त्ती सयमी के मोह का उपशम सामान्यदृष्टि से समान होने पर भी विशेष दृष्टि से वहुत भिन्न है।

एक-एक लेश्या के असख्यात-असख्यात अध्यवसायस्थान हैं; उसी प्रकार मोहोपशम के भी तरतमता के आधार पर अनेक भेद हैं।

उपशान्तमोह गुणस्थानवर्त्ती जीव मोहनीय कर्म की सभी— अट्ठाईस ही प्रकृतियो को दवा देता है। किसी भी प्रकृति का उसे उदय नही होता और जव उदय होता है तो ग्यारहवाँ गुणस्थान नही रहता। अनुत्तर विमानो के देवो मे मोह का उदय है, परन्तु वह सूक्ष्म-रूप मे है। नीचे के देवो की अपेक्षा उनमे अल्प उदय है। वे इस दृष्टि से उपशान्तमोह हैं कि परस्पर मे कलह नही करते, एक दूसरे से ईर्षा-द्वेष नही करते। इसी प्रकार मनुष्यो मे भी कई शान्त प्रकृति के होते हे। कभी-कभी मोह की उदीरणा के कारण सम्यग्दृष्टि भी माथा कूट-कूट कर रोते है, परन्तु कई विचारक नही भी रोते है। एक ही घर मे कई प्रकृतियो के मनुष्य पाये जाते है।

ऊपर वाले वे देव अपने स्थान पर स्थित रहकर ही तीर्थकर भगवान् के साथ वात करते हैं; जैसे तुम भाषावर्गणा के पुद्गलो द्वारा टेलीफोन से वात करते हो।

देवलोक के देव तीन ज्ञान के धनी होते है, भगवान् केवल-ज्ञान के धनी होते है। इसलिए उनमे पूर्वोक्त रूप से शका समाधान

हो सकता है। आज हजारो मील की दूरी से भी बातचीत हो सकती है। वायरलेस से सातो विलायतो की तत्काल खबर आ जाती है।

भगवान् अद्वितीय रेडियोस्टेशन है। उनके समान दूसरा कोई पावरहाउस नही है। न केवल सभी विलायतो के साथ, अपितु चराचर विश्व के साथ उनका सबन्ध है। किन्तु नबर वही मिला सकता है, जिसके पास टेलीफोन हो।

देव अपनी मनोवर्गणाओ के द्वारा भगवान् से प्रश्न करते है और भगवान् उनके प्रश्न को केवलज्ञान से जान कर उत्तर दे देते हैं। प्रश्न किया गया कि कितने साधु मोक्ष मे जाएँगे ? भगवान् ने मन ही मन उत्तर दे दिया कि मेरे सात सौ साधु मोक्ष जाएँगे।

सज्जनो ! मन मे बड़ी जबर्दस्त शक्ति है। वह बहुत दूर-दूर तक गति करता है। उसकी गति के वेग की तुलना किसी से नही की जा सकती। उसका वेग वास्तव मे अचिन्त्य है। इतना असाधारण वेगवान् होने के साथ ही मन अत्यन्त हठीला भी है। उसे जिधर जाने से रोको, हठात् उधर ही जाता है। वह बडे-बडे योगियो को भी अनेक प्रकार के नाच नचाता है। जीव के कर्मबन्धन का प्रधान कारण मन ही है और मोक्ष का कारण भी मन ही है। मन और आत्मा के सघर्ष मे जब आत्मा विजयी होता है और मन पर अपना नियत्रण स्थापित कर लेता है, तब वही मन मोक्षमार्ग पर गति करने मे सहायक बन जाता है। परन्तु जब वह आत्मा को पराजित करके स्वय विजयी बनता है, तब आत्मा को अधोगति की ओर ढकेल ले जाता है।

मन पर प्रमादी जीव काबू नही पा सकता। वह तो मन का क्रीतदास बन कर मन की तरगो पर नाचता है। उस पर काबू

करने के लिए वडी सतर्कता और उपयुक्तता की आवश्यकता है। निरन्तर अभ्यास करने से और विरक्ति की भावना का पोषण करने से धीरे-धीरे मन कावू मे आता है। इसके लिए कठिन साधना अपेक्षित है। परन्तु जब मन वशीभूत हो जाता है तो आत्मा को अपूर्व, अद्भुत और अनिर्वचनीय शान्ति और निराकुलता की अनुभूति होती है। जैसे समग्र विश्व के ऐश्वर्य को प्राप्त करने की चावी मिल गई हो! उस समय आत्मा समभाव मे रमण करता है और आत्मानन्द का पान करता है। विषयो की वाछा रूपी वह्नि उसे सतप्त नही वना सकती। उसे अत्यन्त शीतलता प्रतीत होने लगती है।

जिसे मन पर विजय प्राप्त करनी है उसे प्रमाद का परित्याग करना चाहिए। प्रमाद भयानक वैरी है और वह शिक्षा की प्राप्ति मे भी वाधक वनता है।

शिक्षा-प्राप्ति मे चौथा वाधक कारण रोग है। रोग से ग्रस्त मनुष्य भी शिक्षा प्राप्त नही कर सकता। जिसका तन स्वस्थ नही, प्राय उसका मन भी स्वस्थ नही रह सकता और तन-मन की अस्वस्थता मे शिक्षाप्राप्ति की सभावना भी नही की जा सकती।

पाँचवाँ शिक्षा का वाधक कारण आलस्य है। आलस्य का अर्थ है सुस्ती। आलस्य प्रगति का विरोधी है। कहा भी है—

आलस्य हि मनुष्याणा शरीरस्थो महान् रिपु।

आलस्य शरीर के भीतर छिपा हुआ मनुष्य का महान् शत्रु है।

भगवती सूत्र मे प्रश्न किया गया है कि मनुष्य का उद्यमी होना अच्छा है या आलसी होना अच्छा है? भगवान् ने अपने उत्तर मे अनेकान्तवाद की झलक दिखलाते हुए कहा कि किन्ही जीवो का

आलसी होना अच्छा है और किन्ही का उद्यमी होना अच्छा है। तात्पर्य यह है कि पापी जीव पापकर्म करने मे अगर आलस्य करे तो अच्छा है, इससे उनके पाप मे कमी होगी और दूसरे जीव उनके पापाचार के शिकार होने से बचेंगे, परन्तु धर्मात्मा जीवो का आलसी होना अच्छा नही, उनका उद्यमी होना ही अच्छा है।

विद्यार्थी का आलसी होना अच्छा नही है। आलसी शिक्षा प्राप्त नही कर सकता।

इस प्रकार प्रमाद और आलस्य मे अन्तर है। प्रमाद आलस्य की अपेक्षा अधिक खतरनाक है। क्रोध भी प्रमाद है और मान भी प्रमाद है। क्रोध के सम्बन्ध मे पहले कहा जा चुका है।

मान का स्थान गर्दन है। मनुष्य मे जब मानकषाय का उद्रेक होता है तो उसकी गर्दन सीधी हो जाती है। वह झुकने का नाम नही लेती। अभिमानी अपने गुरुजनो का भी यथोचित सन्मान नही करता, यही नही, वरन् अपमान करने की भी धृष्टता कर बैठता है। वह अपने को औरो से श्रेष्ठ समझता है अपने को सब कुछ और दूसरो को कुछ भी नही समझता है। परन्तु अभिमान के कारण उसे दूसरे लोग घृणा की दृष्टि से ही देखते है।

अभिमानी मे प्रथम तो सद्गुण पनपने ही नही पाते, कदाचित् हो तो भी वे अभिमान की दुर्गंध से दुर्गंधित हो जाते है और लोगो की दृष्टि मे उनका कुछ भी मूल्य नही होता। अभिमान समस्त सद्गुणो को ढक देता है।

अभिमान मनुष्य की क्षुद्रता का द्योतक है। गभीर मनुष्य अभिमान नही करता। कहा है—

सम्पूर्णकुम्भो न करोति शब्द-
मर्धो घटो घोषमुपैति नूनम् ।
विद्वान् कुलीनो न करोति गर्वं,
गुणैर्विहीना वहु जल्पयन्ति ॥

जो घडा पानी से परिपूर्ण होता है वह छलकता नही, मगर अधूरा घडा आवाज करता है। इसी प्रकार जो कुलीन विद्वान् होता है, वह अपनी विद्या का अभिमान नही करता, मगर जो गुणहीन होते है वे वहुत वडवडाते रहते है।

अभिमानी वडी-वडी डीगे मारता है और समझता है कि मै दूसरो पर अपना रौव गालिव कर रहा हूँ, मगर वह नादान वडी भूल मे है। दूसरे उसे तुच्छ और क्षुद्र समझते है। अभिमान से अन्धा वना हुआ वह दूसरो की नफरत भरी निगाहो को देख नही सकता।

भिन्न-भिन्न लोग अपने अभिमान के लिए विभिन्न आधार खोज निकालते है। कोई जाति का, कोई कुल का, कोई वल का, कोई विद्या का, कोई तपस्या आदि का अभिमान करता है। उन्हे पता नही कि ससार मे एक से एक वढ कर लोग मौजूद है, जिनकी तुलना मे वे कुछ भी नही है। इसके अतिरिक्त जाति और कुल का अभिमान करने से पहले मनुष्य को समझ लेना चाहिए कि—जीव इस ससार मे अनादि काल से भ्रमण करता आ रहा है। ऐसी कोई जाति नही, कुल नही, योनि नही, जिसमे प्रत्येक जीव ने अनन्त वार जन्म न लिया हो। भविष्य मे भी क्या ठिकाना है? कौन जीव मर कर किस योनि मे और किस जाति मे जन्म लेगा, इसका कोई निश्चय नही है। ऐसी अवस्था मे आज अपने को उच्चजातीय मान कर दूसरो से घृणा करना कहाँ तक उचित है?

प्रत्येक आत्मा मे अनन्त ज्ञान की शक्ति विद्यमान है। वह शक्ति ज्ञानावरण कर्म के उदय से आच्छादित हो रही है। किसी ने परिश्रम करके किसी विषय का विशेष ज्ञान प्राप्त कर लिया है तो भी वह आत्मा के स्वाभाविक ज्ञान की तुलना मे तुच्छ है—नगण्य है। वह ज्ञान समुद्र की तुलना मे एक बिन्दु के समान है। फिर उस ज्ञान का अभिमान कैसा? समझदार मनुष्य तो यह सोच कर लज्जित होता है कि अब तक मैं ज्ञानावरण कर्म का क्षय करके अपनी असली निधि को प्राप्त नही कर सका।

जो तपस्या का अभिमान करते हैं वे अपनी नादानी से अमृत को विष बना रहे हैं। तपस्या आत्मकल्याण का साधन है, परन्तु उसे जिसने अभिमान का साधन बना लिया, उसकी तपस्या व्यर्थ हो गई—अर्थात् कषायपोषण का कारण बन गई।

इस प्रकार चाहे धन का अभिमान हो, चाहे किसी अन्य वस्तु का, वह आत्मा के लिए कल्याणकर नही है। अभिमान मूर्खता का सूचक है और प्रगति एव उन्नति का बाधक है। अभिमानी अपने को पूर्ण मान लेता है और कमी को भूल जाता है, इस कारण वह उन्नति नही कर पाता।

अभिप्राय यह है कि जैसे क्रोध अहितकर है, उसी प्रकार मान भी अहितकर है। अतएव विवेकशील जनो को उससे दूर ही रहना चाहिए।

माया भी प्रमाद का ही रूप है। इसका स्थान हृदय है। रग इसका काला है। यह 'वलय' अर्थात् चूड़ी की तरह गोलमटोल है, जिसका कही सिरा नही मुख नही। मायावी के पेट का पता नही लगता। वह कहता कुछ है, और करता कुछ है तथा सोचता कुछ है।

उसकी नस-नस मे वक्रता भरी रहती है। मायाचारी कभी मोक्ष के सरल मार्ग का पथिक नही बन सकता। कहा है —

क्व मायाचरण हीन, क्व सन्मार्गपरिग्रह ।
नापवर्गपथि भ्रात । सञ्चरन्तीह वञ्चका ।

कहाँ निकृष्ट मायाचार और कहाँ सन्मार्ग को ग्रहण करना दोनो मे बृहद् अन्तर है। मायाचारी सन्मार्ग पर नही चल सकता और सन्मार्ग पर चलने वाला माया को अपने समीप नही फटकने दे सकता। हे बन्धु, सत्य समझो कि मायाचारी ढगोरे मोक्ष के पावन पथ पर प्रयाण नही कर सकते।

मायाचारी का मन नाना प्रकार के ताने-वाने बुनने मे ही लगा रहता है। उसमे सात्विक भावो का उदय नही हो सकता। अतएव स्वभावत मायाचारी दुर्गति का पात्र बनता है।

दौर्भाग्यजननी माया, माया दुर्गतिदायिनी ।
नृणां स्त्रीत्वप्रदा माया, ज्ञानिभिस्त्यज्यते तत ॥

मायाचार सौभाग्य को नष्ट करके दुर्भाग्य के रूप मे परिणत कर देता है। परलोक तक उसका प्रभाव बना रहता है। माया दुर्गति मे ले जाती है। माया के प्रभाव से पुरुषो को भी मर कर स्त्रीपर्याय धारण करनी पडती है। यही कारण है कि ज्ञानी जन माया का त्याग कर देते हैं।

मायाचारी अपने कुकृत्य को छिपाने के लिए जाल रचता है, परन्तु अन्त मे वह प्रकट होकर ही रहता है। पाप छिपाने से छिपता नही है। ऐसी हालत मे एक पाप को छिपाने के लिए मायाचार का पाप करना कोई बुद्धिमत्ता नही है।

भगवान् मल्लिनाथ के पूर्वभव की कथा हम भूल नही सकते।

उन्होने सिर्फ सज्वलनमाया का सेवन किया था और वह भी तपस्या जैसी आत्मशोधक क्रिया के लिए। उसके प्रभाव से तीर्थंकर होने पर भी उन्हे स्त्रीपर्याय प्राप्त हुई। ऐसी स्थिति मे जो लोग पापाचरण को छिपाने के लिए दिन-रात माया का जाल रचते रहते है, उन्हे कितना भीषण फल नही भोगना पडेगा ?

माया तीन शल्यो मे से एक शल्य है जो व्रतो को अव्रत बना देती है। मायाचारी का सयम सयम नही होता। उसकी धर्मक्रिया मायाचार के कलक से कलकित होने के कारण यथेष्ठ फलदायक नही हो पाती।

लोभ सब अंगो मे रहता है। रोम-रोम मे समाया है। जैसे अन्य मतावलम्बियो का ईश्वर सर्वव्यापक है, उसी प्रकार लोभ भी सर्वांगव्यापी है। शास्त्रकारो ने लोभ की निन्दा करते हुए कहा है—

लोभो सव्वविणासणो।

अर्थात्—लोभ सभी अच्छाइयो को नष्ट कर देता है। लोभ के सबध मे अभी कहा जा चुका है। यह एक ऐसा दोष है जिसे सब जानते हैं परन्तु कोई विरले ही त्यागते है।

हाँ, मैं गुरु और शिष्य की बात कह रहा था। गुरु अपने शिष्य को शिक्षा देने के लिए बार-बार टोकता था, पर शिष्य प्रमादग्रस्त होने के कारण उस शिक्षा की परवाह नही करता था। गुरु चल रहे थे कि अचानक उनके पैर के नीचे एक मेढ़की आ गई। वह मरी हुई मेढ़की थी। उसे देख कर शिष्य ने कहा—महाराज, मेढ़की आपने मारी है।

गुरु ने उसका प्रतिवाद किया, फिर भी चेला न माना तो गुरुजी क्रोधित हो उठे। क्रोधित भी इतने अधिक कि चेले पर टूट पड़े

और उसे मारने लगे। इसी क्रोधावेश मे वह एक खभे से टकराये और मर गये। मरने के वाद उन्हे सर्प योनि मे जन्म लेना पडा।

अभिप्राय यह है कि जव तक आत्मा मे कषाय विद्यमान रहते हैं, तव तक जीव वक्रता पूर्ण व्यवहार करता है। उसके अन्त -करण मे सरलभाव नही आ पाता। यही कारण है कि ज्ञानी पुरुषो ने कपायो को जन्म-मरण का मूल कारण कहा है। अतएव जो भव्य जीव जन्म-मरण की पीडा से पिण्ड छुडाना चाहते है, जो इस भव और परभव मे सुखी होना चाहते है, उन्हे कपायो से वचना चाहिए। क्षमा से क्रोध को, नम्रता से मान को, सरलता से माया को और सन्तोप से लोभ को जीतना चाहिए।

जो भव्य जीव जितने- जितने अशो मे कषायो को जीतता चला जाता है, उतने ही उतने अश मे उस मे सरलता आती जाती है, और जितने-जितने अश मे सरलता आती जाती है, उतने ही उतने अश मे आत्मा शुद्ध और पवित्र वनती जाती है।

सज्जनो! अगर आप अपना वास्तविक कल्याण चाहते है तो वक्रता को त्याग कर प्रभु का स्मरण करो। भगवान् ने कहा है कि मैं जिस मार्ग पर चला हूं, उसी पर चलो और विना विश्राम कूच करते चलो। दुनिया के निरर्थक झझटो को छोडो और आत्मा के हित को ही अपने सामने रक्खो। आत्मा ही सव कुछ है। वही स्वर्ग-नरक का निर्माण करता है और वही साधना द्वारा अन्तत मोक्ष प्राप्त करता है। वोलो भगवान् महावीर की जय!

राजकोट
१९-८-५४

शक्तियों का समन्वय

अरिहन्त अरिहन्त० ।

धर्मप्रेमी वन्धुओ तथा वहिनो !

अभी-अभी अर्हन्त भगवन्त की स्तुति का उच्चारण किया गया है । परमात्मा की स्तुति से चिर सुप्त आत्मा जागृत हो जाता है ।

कोई पुरुप गाढ निद्रा मे सोया हुआ हो और दूसरा कोई इसके पास जाकर आवाज लगाता है तो उसके शब्द सुन कर वह जागृत हो जाता है । कान मे शब्द पड़ने पर वह अगडाई लेकर उठ वैठता है । उसकी प्रमत्त अवस्था दूर हो जाती है और वह चुस्त हो जाता है । यह द्रव्यनिद्रा मे सोये हुए मनुष्य की वात है। द्रव्यनिद्रा मे सोने वाले को जगाने के लिए शब्द की आवश्यकता है और अत्यन्त गाढी नीद मे सोया हो तो झकझोरने की आवश्यकता पडती है । इस प्रकार द्रव्यनिद्रा से जगाने मे कोई कठिनाई नही आती है । यह नीद तो यो भी अल्पकालीन होती है । कदाचित् कोई न जगावे तो भी कुछ समय वाद वह आप ही आप जागृत हो जाता है ।

मगर भावनिद्रा की वात कुछ निराली है । यह निद्रा अल्पकालीन नही, अनादिकालीन है और इतनी अधिक गाढी कि झकझोरने से भी दूर नही होती ।

अनादि काल से आत्मा मिथ्यात्व, प्रमाद एव परभाव मे रमण रूप भावनिद्रा मे सोया हुआ है । जैसे द्रव्य निद्रा मे सोने वाले को,

हिताहित का भान नही रहता, उसी प्रकार भावनिद्रा मे सोने वाले को, द्रव्य निद्रा न होने पर भी हिताहित का विवेक नही होता। वह ऊपरी तौर पर जागता हुआ भी सुप्त सा रहता है। उसके नेत्र खुले रहते हैं परन्तु विवेक सोया रहता है। यही कारण है कि उसे हित-अहित का अन्तर ज्ञात नही होता।

भावनिद्रा मे सुप्त पुरुष मे एक विशेषता यह होती है कि वह वस्तुस्वरूप को विपरीत ही समझता है। उसे अहित हित प्रतीत होता है और हित अहित जान पडता है। जिन विचारो और कर्त्तव्यो से आत्मा नाना प्रकार की विपत्तियो का भाजन बनता है, उसे वह सुखरूप समझता है और ऐसे ही कामो मे प्रवृत्ति भी करता है। मगर आत्मा का वास्तविक कल्याण करने वाले कार्यों से दूर-दूर भागता है।

इस प्रकार भावनिद्रा बडी दुर्जय है। मिथ्यात्व एव अज्ञान के आवेश मे जीव आत्मभाव को भूल रहा है। किस प्रकार उसकी यह निद्रा दूर हो सकती है? भावनिद्रा से जगाने का निमित्त क्या है?

महापुरुषो की उपदेशध्वनि और गुणस्तुति के पावन शब्द भावसुप्त आत्मा को जागृत कर देते हैं। उनकी वाणी मे अद्भुत सामर्थ्य होता है और वह सामर्थ्य उनकी तपस्या से उत्पन्न होता है। उनके गुणो का स्तवन भी हृदय मे एक प्रकार की प्रबल प्रेरणा उत्पन्न करता है। स्तुति अगर एकाग्र चित्त से की जाय और स्तुति के स्वर मे हृदय के रस का भी सम्मिश्रण हो तो अपूर्व फल की प्राप्ति होती है। स्तुतिगान से चित्त मे जो रस प्रवाहित होता है, उससे आत्मा का कालुष्य धुल जाता है।

स्तुत्य के प्रति निश्चल आस्था और गहरी भक्ति होने से स्तोता शनैः शनैः उसके साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर लेने मे समर्थ होता है और वह तादात्म्य कालान्तर मे उसे स्तुत्य की श्रेणी मे पहुँचा देता है। अर्थात् स्तोता स्वय परमात्मा बन जाता है। मगर जैसा कि अभी कहा गया है, स्तुत्य के गुणो के साथ अन्त करण का तदाकार हो जाना आवश्यक है। जब तक यह तदाकारता नही आती तब तक आत्मा मे जागृति उत्पन्न नही हो सकती।

नाम के द्वारा नामी के साथ जिसने सबन्ध जोडा है, वही आनन्द पाता है। ऊपर-ऊपर से 'नमो अरिहताण' आदि कहने से काम नही चलता। जीभ से जुडा परन्तु मन से नही जुडा हो तो काम नही चलता।

जीभ का काम शब्दोच्चारण करना है। यह न हो तो मनुष्य बोबडा-गूँगा हो जाय और ऊँ-ऊँ करे। अन्दर के ततु जिह्वा के साथ जुडे होते है तो जिह्वा यथोचित व्यापार नही कर सकती और इसी कारण शब्दो का स्पष्ट उच्चारण नही होता। जिह्वा मे कोई त्रुटि नही होती तो शब्दो का उच्चारण ठीक होता है। परन्तु शब्दो मे जो भाव निहित है उसे जानने का काम मन का है। ऐसी हालत मे जिह्वा से शब्दोच्चारण हो रहा हो परन्तु मन उन शब्दो से जुडा हुआ न हो तो वह उच्चारण व्यर्थ हो जाता है—भावविहीन हो जाता है।

कई लोगो ने मुझसे कहा है कि—जब हम भजन करते है तब मन इधर-उधर चक्कर काटता रहता है, वह स्थिर नही होता और जब मन स्थिर नही होता तो भजन करने से क्या लाभ है ? यह विचार करके हम भजन नही करते।

इस सम्बन्ध मे मेरा कथन है कि मन का स्थिर होना

आवश्यक है, इसमे कोई सन्देह नही। परन्तु साधक जब तक 'अनट्रेण्ड' है, अभ्यासी नही है, तब तक मन अनियत्रित रहेगा ही। कोई यह चाहे कि पहले मन नियन्त्रित हो जाय और फिर भजन करे तो यह सर्वथा असम्भव है। किसी भी क्षेत्र मे पहले पहल अभ्यास की आवश्यकता होती है। बच्चा जब अक्षर लिखना सीखना आरभ करता है तो पहले-पहल ऊट-पटाँग लिखता है। धीरे-धीरे लिखते-लिखते उसे ठीक लिखना आता है। अगर कोई बालक यह सोचने लगे कि पहले ठीक लिखना आ जाय, तब मैं ठीक लिखना शुरू करूँ तो वह अपनी जिन्दगी मे कभी लिखना नही सीख सकेगा।

तो जैसे सुन्दर अक्षर लिखने के लिए अभ्यास करने की आवश्यकता है और आरम्भ मे सुन्दर अक्षर न लिखे जाने के कारण अनुत्साहित एव हताश न होकर पुन पुन प्रयत्न करना आवश्यक है, इसी प्रकार भजन का अभ्यास करना भी आवश्यक है। ठीक है कि प्राथमिक स्थिति मे मन इधर-उधर भागेगा, पर इससे निराश होकर भजन का त्याग कर देना उचित नही, बल्कि मन को स्थिर करने का ही प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार अभ्यास करते-करते एक समय आएगा कि चित्त भजन मे एकाकार होने लगेगा और भजनकर्त्ता को अपूर्व आनन्द की उपलब्धि होने लगेगी।

अगर मन को नियन्त्रित करने मे कठिनाई न होती, वह अनायास ही वशीभूत हो जाता, तो साधना की आवश्यकता ही नही थी।

कई लोग समझते है कि पवन से भी अधिक चचल मन को वशीभूत और स्थिर करना सम्भव ही नही है। परन्तु ऐसा समझना एकदम भ्रमपूर्ण है। जो आत्मा के अचिन्त्य सामर्थ्य पर विश्वास

करते हैं, वे ऐसा नही सोच सकते । मन को स्थिर करना अगर संभव न होता तो शास्त्रो मे ऐसा करने का उपदेश ही न दिया होता । तथ्य यह है कि अभ्यास मे मन पर नियन्त्रण स्थापित किया जा सकता है, अतएव निराश होने की आवश्यकता नही । हाँ, रात-दिन सासारिक संकल्प-विकल्प मे फँसे रहने से, राग-द्वेष के वशीभूत होकर रहने से और वैराग्यवृत्ति का पोषण न करने से चित्त की चचलता बनी रहती है । अतएव जो मन को स्थिर करने के अभिलाषी है, उन्हे इन बातो से बचना चाहिए । कदाचित् संसार का त्याग पूरी तरह से न किया जा सके तो भी अधिक से अधिक तटस्थ भाव जीवन मे उत्पन्न करना चाहिए और दुनिया की वस्तुओ मे लिप्त नही होना चाहिए ।

आपको मालूम होना चाहिए कि सिद्ध भगवान् भी पहले कभी हम और आपके समान ही थे । उन्होने धीरे-धीरे उत्थान किया । उन्हे सर्वप्रथम आत्मा पर विश्वास हुआ । जिसे आत्मा पर ही विश्वास न हो, वह आगे कैसे बढ सकता है ? आत्मविश्वास साधना की प्रथम सीढ़ी है । इसके अभाव मे न कोई सच्चा साधक कहला सकता है और न साधना ही कर सकता है ।

हाँ, तो सिद्ध भगवान् पहले-पहल आत्मविश्वास के बल पर आगे बढे और धीरे-धीरे साधना के क्षेत्र मे अग्रसर होते-होते सिद्धि-लाभ करने मे समर्थ हो सके । उनकी साधना की विधि शास्त्रो मे लिखित है और वह इसलिए लिखी गई है कि हम आप जैसे साधक उससे अपने साधनामार्ग को समझ सके ।

बच्चा जब छोटा होता है तो खड़ा नही हो सकता । फिर वह खडा होने का प्रयत्न करता है और लड़खड़ा कर गिर पडता है । इस

प्रकार बार-बार गिरते-पड़ते उसमे मजबूती के साथ खडा होने की शक्ति आ जाती है। अगर गिरने के भय से वह खडा होने का प्रयत्न ही न करे तो कैसे उसके ढीले चरणो मे ताकत आएगी ? उसका खून जम जायगा। फिर उसका खड़ा होना असम्भव हो जाएगा।

बालक को प्रकृति से ही खडा होने की प्रेरणा प्राप्त होती है। प्रकृति उसे विकास का अवसर देती है। वह पुरुषार्थ करते-करते खडा होने लगता है। फिर अभ्यास बढा कर चलने लगता है और फिर भागने लगता है।

इसी प्रकार आत्मा मे अनन्त शक्तियाँ हैं, परन्तु उनका विकास तभी होता है जब उन्हे काम मे लाया जाय। विकास के लिए अभ्यास करना चाहिए।

शरीर के अङ्गो से काम लेने से ही वे मजबूत बनते है। बेकार रहने से शून्यवत् बन जाते है। आम तौर पर लोग दाहिने हाथ से लिखते है, परन्तु क्या बाएं हाथ मे ऐसी योग्यता नही कि उससे लिखा जा सके ? है क्यो नही, पर उससे लिखने का काम नही लिया गया। अतएव उसकी योग्यता का विकास नही हुआ है। जो लोग बाए हाथ से लिखने का अभ्यास करते है, वे उससे उसी प्रकार सफलता, सुन्दरता और तीव्रता के साथ लिखते है जैसे दूसरे लोग दाहिने हाथ से लिखते है।

तो स्पष्ट है कि जिस अग या उपाग से काम नही लिया जाता, वह जड़वत् हो जाता है। इसी प्रकार ससारी जीव आत्मा की शक्ति का प्रयोग नही करते, अतएव आत्मा की शक्तियाँ कुण्ठित हो गई हैं। उन कुठित शक्तियो को सजीव, क्षमतायुक्त और

कारगर वनाने के लिए आवश्यक है कि उनका विवेकपूर्ण उपयोग किया जाय।

जो आत्मा की शक्तियो से अपरिचित हैं, वे वस्तुत अनात्मज्ञ है और जो आत्मा को ही नही पहचानता, वह अन्य पदार्थों को भी समीचीन रूप मे नही पहचान सकता। उसका अन्य पदार्थो सवधी ज्ञान, फिर वह कितना ही सूक्ष्म और विस्तृत क्यो न हो, मिथ्या है। ऐसे अनात्मज्ञ लोग, जब देश या धर्म का कोई काम आ पडता है तव कहते है—हम मे इतनी शक्ति नही है! हम से यह न होगा! किन्तु—

न हो सकेगा यह काम भाई—
कभी न वोलो, यह हीनताई।
न क्यो सकोगे कर जो विचारो,
अधीरता को मन से निकारो ॥

मैं असमर्थ हूँ, हीन हूँ, दीन हूँ, इस प्रकार की हीन भावना को जो दिल से निकाल फैंकते हैं और अपनी शक्ति पर भरोसा रख कर कार्य मे जुट जाते है, उनके लिए कोई भी काम कठिन नही रह जाता। वे जो चाहते है वही कर गुजरते है।

हे आत्मन्! तुझ मे वही शक्ति विद्यमान है जो परमात्मा मे है। वस, उसे समझ और काम मे ला।

जो अपनी शक्ति का उपयोग नही करते, वे दूसरे का कुछ नही विगाडते, अपनी ही शक्ति का ह्रास करते है। काम न करने से प्रथम तो प्राप्त शक्ति का उपयोग नही होता, दूसरे शक्ति का विकास भी नही होता।

शक्ति होने पर भी जो उसे काम मे नही लेता, वह चोर है, अपने ही प्रति अपराधी है। तपस्या करने की शक्ति होने पर भी जो तपस्या नही करता, वह तपस्तेन अर्थात् तपस्या का चोर है, ऐसा शास्त्र मे कहा है। उसे अगले भव मे जाकर पश्चात्ताप करना पडता है। जो देवलोक मे चले तो जाते हैं, मगर उत्तम ऋद्धि नही पाते, वे झूरते है और कहते हैं—'आह, मैं ने शक्ति के अनुसार तपस्या नही की, दु खी का दु ख दूर नही किया, इस कारण मुझे उत्कृष्ट ऋद्धि से वचित होना पड़ा।'

यद्यपि शास्त्र मे स्पष्ट आदेश है कि स्वर्गीय सुखो को अभिलापा से तपस्या नही करनी चाहिए, तथापि तपस्वी को आनुषगिक रूप मे देवलोक के सुख प्राप्त हो ही जाते है। वीच मे कुछ विश्राम करना ही चाहिए।

शक्ति को चुराना भी चोरी है। किसी साधु को कृशकाय देखकर कोई प्रश्न करता है—अमुक प्रसिद्ध तपस्वी क्या आप ही हैं ? वास्तव मे वह साधु दूसरा है, तपस्वी नही है, मगर मुफ्त में मिलने वाली प्रतिष्ठा का त्याग न कर सकने के कारण वह स्पष्ट नही कहता कि—नही, वह प्रसिद्ध तपस्वी दूसरे हैं—मैं नही हूँ, साथ ही मृपावाद के भय से स्पष्ट रूप से यह भी नही कहता कि—हाँ, मैं वही तपस्वी हूँ। वह गोलमोल उत्तर देता हुआ कहता है—भाई, तपस्या करना तो साधु का कर्त्तव्य ही है। मुझसे जितनी तपस्या वनती है, कर लेता हूँ। वह भी प्रसिद्धि के लक्ष्य से नही करता।

इस प्रकार के उत्तर से प्रश्नकर्त्ता को यह खयाल हो सकता है कि वास्तव मे यह वही प्रसिद्ध तपस्वी है। अतएव ऐसा उत्तर देने वाले को शास्त्रकार 'तपस्या का चोर' कह कर पुकारते है।

वचनशक्ति होने पर भी उसका उपयोग न करना और आलस्य मे पड़े रहना भी शक्ति की चोरी है। बोलना भी बड़ी महत्त्वपूर्ण कला है और कठिन काम है। दिमाग बड़ा नाजुक है। इसके साथ युद्ध करना मुश्किल है। ध्यान रखना पड़ता है कि कही अर्थान्तर न हो जाय, अनर्थ न हो जाय, शास्त्र, परम्परा और अपनी निज की मान्यता के विपरीत कोई बात मुँह से न निकल जाय। अपटु वक्ता बहुत बार ऐसी बात मुँह से निकाल देते है जो उनके विचार के भी अनुकूल नही होती। बाद मे जब उनका ध्यान उसकी ओर जाता है तो उन्हे पश्चात्ताप होता है कि ऐसी बात उनके मुख से कैसे निकल गई !

बहुत बार वक्ता कुछ कहना चाहता है और कुछ कह डालता है। शब्दो का समुचित प्रयोग न करने के कारण अर्थान्तर हो जाता है। कभी दिमाग स्वस्थ न होने से भी इस प्रकार की भूल हो जाती है। अतएव वक्ता पर बडा उत्तरदायित्व रहता है। उसे अपने दिमाग को नियत्रित, स्वस्थ और शान्त रखना चाहिए। उत्तेजना के वशीभूत होकर यद्वा-तद्वा शब्दोच्चारण नही करना चाहिए। जैसे मोटर चलाते समय ड्राइवर बराबर ध्यान रखता है, वक्ता को उससे भी ज्यादा ध्यान रखना पडता है। मगर वक्ता के इस उत्तरदायित्व को इतर जन नही समझ सकते। नीतिज्ञ कहते हैं—

न हि वन्ध्या विजानाति गुर्वी प्रसववेदनाम्।

बाझ स्त्री को क्या पता कि प्रसव की पीड़ा कैसी होती है ? प्रसवधर्मिणी ही उसे समझती है।

अभिप्राय यह है कि जो शक्ति मिली है, वह सदुपयोग करने के लिए ही हे। शक्ति का दुरुपयोग करना जैसे बुरा है, सदुपयोग न करना भी उतना ही बुरा है।

जो पुरुष अपनी वक्तृत्वशक्ति का प्रयोग करके वीतरागवाणी का प्रसार करता है, यदि उत्कृष्ट रसायन आ जाय तो उसे तीर्थंकर-गोत्र का वध होता है। परन्तु आज के कितनेक साधु तो भापण करने मे भी सकोच करते है। गाठिया खाये-पिये और पडे रहे।

ठाणांगसूत्र का कथन है कि साहित्य का पठन-पाठन न करने से वह नष्ट हो जाता है। सम्प्रदाय-गच्छ का आधार साहित्य ही है। पाया निकल जाने पर भवन भी गिर जाता है।

मगर आज की तो वात ही निराली है। कई साधु सेठ के आने पर प्राइवेट रूम मे चले जाते है और एकान्त मे बाते करते है। स्पष्ट है कि वे गुप्त वार्त्तालाप करने के लिए ही ऐसा करते है। दूसरो से कुछ छिपाना चाहते है। मगर इस प्रकार का व्यवहार क्या साधुजीवन से सगत है? साधु की क्रिया खुली है। उसके पास छिपाने योग्य कुछ भी नही होना चाहिए। जहाँ छिपी वात हो वहाँ समझना चाहिए कि मामला गडवड है। जहाँ प्राइवेट लिफाफा आवे, समझो कि वहाँ कुछ खोट है। गुरु की डाक जुदी आती है और चेले की डाक जुदी। मेरे ये साधु मेरी इजाजत के विना दो अक्षर भी नही लिखा सकते। पर गुरु और चेले की जुदी-जुदी डाक मैने आँखो देखी है। आखिर क्यो ऐसी गडवड चल रही है? इससे धर्म की निन्दा होती है और सयमधारियो का स्तर दिन पर दिन गिरता जा रहा है।

आज समाज मे जो अनेक अवांछनीय घटनाएँ हो रही हैं, उनका एक कारण प्राइवेट लिफाफे भी है। अगर यह प्राइवेट पत्र-व्यवहार वद हो जाय तो कई वुराइयो का अन्त आ सकता है। साधुओ के पास पत्रव्यवहार करने को समय है, साध्वियो की डाक अलग, सेठ-सेठानियो की अलग, उन सव को उत्तर लिखना है। मगर

स्वाध्याय के लिए समय नही है। यह सब परिस्थिति अगर कायम रहती है तो भविष्य मे और भी अधिक भयकर परिणाम आ सकते है।

इस कथन का अर्थ यह न समझिए कि सब साधु एक सरीखे है। भाग्यवान् और सयमपरायण साधुओ की नास्ति नही है। सरलात्मा भी है और रहेगे। एक कवि ने कहा है—

छोड घरवास वनवास को चालिया,
पिछले भेप का भ्रम भागा।
नाम अतीत और सकल सौदे करे,
देखवे जोग को रोग लागा।

वणज-वट्टा करे खेत-कूदा चले,
गाय घोड़ी घर ठाण देवे।
हाथ खुरपा लिये घास खोदे सदा,
कहो जी किस विध नाम लेवे॥

जो वावाजी गाय-भैस के लिए घास खोदने मे लगे रहते है, उन्हे प्रभुभजन के लिए फुर्सत कहाँ! साधु का नाम अतीत अर्थात् गृहस्थी सम्बन्धी व्यापारो से रहित है, परन्तु आज 'सकल सौदा करे।' दुनियादारी के सब कामो मे भाग लेते हैं। इसे कहते है योग मे रोग का लगना!

सुना जाता है कि कई साधु कहलाने वाले प्राइवेट पूजी भी रखते है। थोडे समय पहले की वात है—एक तपस्वी मिले। वे गृहस्थो मे दाम लेकर ओघे-पूजणी आदि वनवाते, वेचते और इधर-उधर भिजवाते थे। क्या यह कलक की वात नही है? मैंने उनसे

कहा—साधुवेष के साथ यह क्रिया ठीक नही है। इस प्रकार की झझटो से दूर हो जाओ। साधु को व्यापार करके क्या करना है? तव उन्होने कहा—'मेरे पास कोई मुनीम-गुमाश्ता नही है, अतएव मैं स्वय यह सव करता हूँ। वड़े-वडे नामी सन्त मुनीम-गुमाश्तो से सब करवा लेते है।' यह कितने दु ख और परिताप की वात है? अगर यही ठर्रा चालू रहा तो साधुसस्था की क्या स्थिति होगी?

विश्वेश वीर भगवन्, सुधि लीजिए हमारी,
देवाधिदेव रक्षा, अव कीजिए हमारी ॥ टेक ॥
माया को त्याग कर के भी माया न त्यागते है।
रखते सदा हृदय मे माया कपट-कटारी ॥

एक सच्चा साधु प्रभु से हृदयद्रावक प्रार्थना करता है। वह साधु सस्था के वर्त्तमान रग-ढग को देख कर व्यथित है, मानो पीड़ा से कराह रहा है। समाज के शिरोमणि समझे जाने वाले अपने उच्च स्थान को भूल कर नीचे खिसक गए है, उन्हे अपनी पवित्र प्रवृत्तियो का भान नही रहा है। यह देख कर किसी भी धर्मनिष्ठ व्यक्ति के चित्त को व्यथा होना स्वाभाविक है। इसी व्यथा से व्यथित होकर यह प्रार्थना की गई है। वह कहता है—कितनी वड़ी विडम्वना की वात है कि यह माया—लक्ष्मी के त्यागी होकर भी माया अर्थात् दगावाजी को नही त्यागते है। वाहर से कोई शस्त्र न रखते हुए भी हृदय मे कपट की कटारी छिपाये हुए है।

शस्त्र दो प्रकार के होते है—द्रव्यशस्त्र और भावशस्त्र। लोहे-लकडी आदि से वने हुए द्रव्यशस्त्र कहलाते है और क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह, राग, द्वेष आदि आन्तरिक विकार भावशस्त्र है। द्रव्य-शस्त्र स्थूल होते है, अतएव स्थूल नेत्रो से नजर आ जाते है। उन को

छिपा कर रखना कठिन होता है। परन्तु भावशस्त्र सूक्ष्म होते है और चर्मचक्षु से दृष्टिगोचर नही होते। अतएव उन्हे रखने से भी सर्वसाधारण मे प्रतिष्ठा भग होने का खतरा नही रहता। यही कारण है कि जो लोग द्रव्यशस्त्रो का त्याग कर देते है, वे भी भाव-शस्त्रो को सुरक्षित रखते हैं।

किन्तु भावशस्त्र क्या कम खतरनाक है ? नही, वह द्रव्यशस्त्रो से भी अधिक और बहुत अधिक खतरनाक होते है। द्रव्यशस्त्र दूसरो का घात करते है तो भावशस्त्र शस्त्रधारक का ही घात करते है। द्रव्यशस्त्र एक बार मौत का कारण बन सकता है, परन्तु भावशस्त्र जन्म-जन्मान्तर मे मरण का कारण बनता है।

जहाँ परिग्रह है, मूर्छा-ममता है, वहाँ कषायो का होना अनि-वार्य है। अतएव साधु को परिग्रह से सैकडो कोस दूर ही रहना चाहिए। पचो की साक्षी से, गाजे-बाजे और समारोह के साथ जिसे परण कर लाये, उसको भी त्याग दिया और मुनिव्रत अगीकार किये, फिर भी चाह न गई! द्रव्य की तथा कीर्त्ति की कामना ज्यो की त्यो बनी रही!

परणी हुई प्रिया का प्रेम त्याग दीना,
फिर भी गले लगा ली यह चाहना-चमारी।
तृष्णा-तरगिणी मे गोते लगा रहे है,
शिष्यो की लालसा मे नियमावली बिसारी।।

जिसने विवाहिता पत्नी का परित्याग करके चाहना-चमारी से रिश्ता कायम किया है, उसका वह त्याग धिक्कार के योग्य है। जो लोग तृष्णा की नदी मे गोते खाते रहते है अर्थात् कामनाओ के

ही चक्कर मे पड़े रहते है और चेलो की बलवती चाह के वश होकर साधुजीवन के नियमो को ताख मे रख देते हैं, उनका वह जीवन बेकार हो जाता है। वे न इधर से रहते है, न उधर के रहते है। उनके विषय मे यही कहावत चरितार्थ होती है कि—

> दोई दीन से गये पाडे,
> हलुवा मिला न माडे।

सच्चा मुनि दिल खोलकर प्रभु के सामने रख देता है। भगवान् भव-रोग के अद्वितीय वैद्य है। उनकी दवा से समस्त व्याधियाँ दूर हो जाती है। वे अमूल्य और अमोघ औषध देते है। मगर रोगी शैतान हो, दी हुई पुड़िया फेंक दे या कुपथ्य करे, खटाई वगैरह हानिकारक वस्तुओ का सेवन करे तो वैद्य का क्या दोष है? पथ्य के बिना काम नही चलता। सौ दवा और एक पथ्य बराबर है। खाने-पीने मे सयम रखने वाला बिना औषध ही बीमारी मिटा लेता है। पथ्य से आरोग्य की प्राप्ति होती है। मगर चटपटी चीजे सामने आती हैं और यह लाली बाई (जीभ) ललचा जाती है। इसे आरोग्य अनारोग्य मे कोई मतलब नही, स्वाद चाहिए। क्षण भर की तृप्ति चाहिए। यह जान-बूझकर भी कुपथ्य सेवन करती है।

शादी के समय अनेक लोग बरयात्रा मे गये साक्षी बनने के लिए। वाद्यो की तुमुल ध्वनि के साथ किसी कुलीन कन्या का पाणिग्रहण किया, परन्तु उसको भी त्यागकर त्यागी बने। मगर उसे त्यागने के पश्चात् भी चमारी के साथ नाता कर लिया! वह चमारी चाह है, तृष्णा है, लालच है।

> चाह चूहडी चाह चमारी, चाह नीचन को नीच।
> तू तो पूरण ब्रह्म था, गर चाह न होती बीच ॥

चाह ने सारा गुड गोबर कर दिया। चाण्डाली का स्पर्श नही करते मगर चाह रूपी चाण्डाली को हृदयासन पर विराजमान कर रक्खा है! सुशीला को छोड कर कुटिला के पजे मे पड गया। अगर यही करना था तो त्यागी का वाना धारण करने की क्या आवश्यकता थी ? साधु वनकर सयम का पालन न करने की अपेक्षा तो देशव्रती होकर रहना ही वेहतर है। शास्त्र मे भी कहा है—

सति एगेहि भिक्खूहि गारत्था सजमुत्तरा।

अर्थात्—किन्ही-किन्ही भिक्षुओ की अपेक्षा गृहस्थ भी सयम मे आगे होते है।

यह वचन ऐसे ही लोगो के सम्वन्ध मे है जो साधु जीवन अपनाने की प्रतिज्ञा करके भी साधु के नियमो का पालन नही करते। ऐसे लोग न श्रावक की कोटि मे और न साधु की कोटि मे ही गिनने योग्य होते हैं। वे सागार धर्म और अनगार धर्म, दोनो से ही पतित है।

आज वडी विचित्र स्थिति है। साधु जीवन की मुख्य प्रवृत्ति स्वाध्याय, ध्यान, तपश्चरण आदि करके आत्मा का कल्याण करना और साथ ही विषयासक्त ससारी जीवो को वीतरागप्ररूपित धर्म का पथ दिखलाना है। पर इस ओर कितने ध्यान देते है ? जिनके पास वचन का वल है और जो उस वल का प्रयोग करके अनेको का निस्तार कर सकते है, वे भी प्रमाद मे पडे रहते और सोचते है कि—

किस-किस की फिक्र कीजिए, किस-किस को रोइए।
आराम वडी चीज है, मुँह ढक के सोइए॥

यह इन्द्रियलोलुप और स्वार्थी जीवो के मनोभावो का विश्लेषण है। उनका मन्तव्य होता है—

कोई मरे कोई जिये, खुसरा घोल पतासा पीये ।

बस, हमारा समय आनन्द मे व्यतीत होना चाहिए। हम गुलछर्रे उडाते रहे। हमारी चैन की वशी वजती रहे। फिर दुनिया मे चाहे कुछ भी हो, हमे इससे कोई सरोकार नही। कोई मतलव नही।

एक कवि ने पृथिवी से पूछा—माता, तेरे ऊपर कितना वहुत वोझ है! एक लाख योजन का सुमेरु पर्वत तेरी छाती पर खडा है। उसके सिवाय अन्य असख्य पर्वत, पेड, नदी-नाले आदि भी तेरी छाती पर जमे हैं। क्या तुझे इन सव का वोझ नही लगता? तव पृथ्वी ने कहा—

न हि मे पर्वता भारा न मे भाराश्च सागरा ।

अर्थात्—नही, मुझे इन पर्वतो और सागरो का वोझ नही लगता। स्वयभूरमण समुद्र के वोझ से भी मैं पीडा का अनुभव नही करती। मुझे अगर किसी का भार असह्य है तो वह विश्वासघातको का भार है।

भारा विश्वासघातका ।

विश्वासघात करने वालो के भार से मैं रसातल की ओर जा रही हूँ। जो लोग मुझसे खाते है परन्तु वदले मे किसी का कोई उपकार नही करते, उन कृतघ्नो और विश्वासघातियो के वोझ से मैं दवी जा रही हूँ।

वास्तव मे जो दूसरो से अपनी सुख-सुविधा प्राप्त करते हैं उन्हे दूसरो के भी काम आना चाहिए, अपनी स्थिति और योग्यता के अनुसार उनका उपकार करना चाहिए। जो ऐसा नही करते, अपने कर्त्तव्य से च्युत होते है।

शास्त्र मे कहा है कि अठारह पापो मे प्रवृत्ति करने से जीव भारी बनता है और नीचे जाता है। तूबे का स्वभाव पानी की सतह पर तैरने का है, परन्तु पत्थर बाँध देने से वह नीचे जाता है। इसी प्रकार आत्मा भी स्वभाव से ऊर्ध्वगमनशील है, परन्तु अठारह पापो की अठारह शिलाएँ बंधी होने से वह भवसागर मे डूवती है—अधोगति मे जाती है। जैसे-जैसे जीव पापो का परित्याग करता जाता है, वैसे-वैसे हल्का होता जाता है। यद्यपि पत्थर, लोहा, तावा आदि भार हैं, पर पाप का भार सव से वडा है।

इस जगत् मे सव से वड़ा बुद्धिमान् और विवेकवान् वही है जो अपनी आत्मा को पाप के भार से वचाता है। यह ठीक है कि प्रत्येक के लिए प्रत्येक पाप से वचना सरल नही है तथापि निरर्थक पाप से वचने मे कोई कठिनाई नही है और निरर्थक पापो से बचने वाला भी वहुत नफे मे रहता है। उदाहरण के लिए वचनशक्ति को ही लीजिए। मनुष्य जैसे शरीर से और मन से पाप का उपार्जन करता है, उसी प्रकार वचन से भी करता है। अगर वचन से निरर्थक पाप का त्याग कर दिया जाय तो गृहस्थी सवन्धी कायो मे कुछ भी रुकावट नही होगी, मगर वहुत-से पापो से वचाव अवश्य हो जाएगा।

व॰ वचनशक्ति यो ही नही मिल गई है। एकेन्द्रिय दशा मे जव निस्के आत्मा रहा तव तक उसे जिह्वा इन्द्रिय भी प्राप्त नही थी। ‍सी प्रकार कोई पुण्य उदय मे आया और द्वीन्द्रिय अवस्था प्राप्त ‌हुई तो जिह्वा मिली। फिर भी स्फुट वाणी नही प्राप्त हो सकी। मनुष्य-गति मे जन्म हुआ और अविकल जिह्वा मिली तो स्पष्ट उच्चारण करने की क्षमता आई। इस क्षमता को प्राप्त करनेके लिए

अनन्त पुण्य की पूंजी व्यय करनी पडी है। और अब, जबकि जिह्वेन्द्रिय प्राप्त है तो उससे धर्म-पुण्य की वृद्धि करनी चाहिए न कि पाप का उपार्जन करना चाहिए। पुण्य से प्राप्त साधन को पाप का कारण बना लेना मूर्खता की पराकाष्ठा है।

अरे जीव! अगर तू अपनी जीभ से परमात्मा का गुण-गान करे, सन्तो की स्तुति करे, वीतराग की वाणी का पाठ करे और दूसरो को सुनावे तो तेरी क्या हानि हो? तेरा भी भला हो, दूसरो का भी भला हो। तेरी जीभ सार्थक हो जाए और भविष्य मगलमय बन जाए। परन्तु तू तो उलटी राह चलता है। निन्दा, चुगली और विकथा करके पाप की वृद्धि करता है।

आज के कितनेक साधु धर्मसाधना मे पसीना बहाना नही चाहते और धर्मोपदेश देने से कतराते है। वे वचन के चोर है।

कोई साधु वक्तृत्व मे कुशल है, प्रखर वक्ता है। उसकी बहुत ख्याति है। किसी अनजान व्यक्ति ने किसी दूसरे साधु से पूछा—क्या वह प्रखर वक्ता आप ही है? तब वह उत्तर देता है—क्या रोटियाँ खाने के लिए ही साधु बने है? इस प्रकार का कपटपूर्ण उत्तर देने वाला साधु भी वचन का चोर है।

वचन के चोर की तरह भाव के भी चोर होते है। बहुत-से लोग दूसरे लेखको और विचारको के भावो का अपहरण करके अपने नाम पर चढा लेते है। कोई दूसरो से लेख-पुस्तक आदि लिखवा कर अपने नाम से उसे प्रसिद्ध करते है। ऐसा करने वाले भाव के चोर कहलाते है। भाव दूसरे के और मालिक आप बन गया। दूसरे की चीज पर अपने नाम का लेबिल लगा दिया! यह चोरी है। सरकार

भी इसे चोरी मानती है और ऐसे चोरो पर मुकदमा चल सकता है। यहाँ तो घूँस भी काम दे सकती है परन्तु कर्म के सामने कुछ भी नही चलेगा, कोई तरकीब काम न आएगी।

इसी प्रकार आचार के भी चोर होते है। नीबू या केरी के आचार के चोर नही, चारित्र के चोर से यहाँ अभिप्राय है। ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार आदि पॉच आचार, जो जैनागमो मे प्रसिद्ध है, उन्ही का यहॉ ग्रहण करना चाहिए। इन आचारो में निष्ठ किसी सन्त की बहुत ख्याति हो। किसी मैले कपडे वाले को कोई पूछे कि क्या आप ही वह क्रियापात्र है ? तब वह चालाकी से उत्तर दे कि साधु तो चारित्रवान् होते ही है। इसमे पूछने की बात ही क्या है ? ऐसा कहने वाला आचार चोर है।

इस प्रकार की चोरी करने वाले लोग किल्विषी देव बनते हैं—तीन पलिया, तीन सागरिया या तेरह सागरिया। वे सम्यक्त्व से विहीन होते हैं। देवगति की आयु पूर्ण होने के पश्चात् उन्हे बकरा आदि मूक पशुओ के रूप मे जन्म लेना पड़ता है।

तो अभिप्राय यह है कि मनुष्य को जो शक्तियाँ प्राप्त हैं, उन का सदुपयोग करना चाहिए। अन्यथा देवलोक मे जाने पर भी उसे पश्चात्ताप करना पड़ता है कि—ज्ञान लेने का अवसर और सामर्थ्य होने पर भी मैं ने ज्ञान प्राप्त नही किया। परन्तु जब तीर हाथ से निकल गया तो पश्चात्ताप करने से भी क्या होता है ? मक्खी दोनो हाथो से माथा कूटती है। कभी आप लोगों ने देखा है ?

'जी हाँ।'

'भला क्यो कूटती है ?'

एक दिन की बात है। बादशाह अकबर का दरबार लगा

था। सव राजकर्मचारी यथास्थान वैठे हुए थे। बादशाह के ऊपर वैठकर मक्खी दोनो हाथो से माथा कूटती है—हाथ घिसती है। यह देखकर अकबर ने बीरवल से पूछा कि—

किहि कारण हाथ घिसे मखिया ?

तव वीरवल ने उत्तर दिया——

टेट करी भर यौवन मे गुरुदेव की सेव न कर सकिया,
दिन-रात पच्यौ धन-यौवन मे परतिरिया देख रची अँखियाँ,
दान न मान भज्यौ भगवान् झूठ की वात सदा अँखियाँ
तिन कारण राजन् वापडी यह सिर कूटत हाथ घसे मखिया।

वीरवल मे औत्पत्तिकी बुद्धि विशेप थी। वह अवसर के अनुसार वात कहता था, क्योकि——

मीठी भी फीकी लगे, विन अवसर की वात।
फीकी भी मीठी लगे, अवसर केरी वात॥

राम का नाम सत्य है, पवित्र है, मगर किसी विवाह के अवसर पर अगर कोई 'राम नाम सत्य है' का नारा बुलन्द कर दे तो कितना अप्रिय होगा ? लोग उसे अमगल समझेंगे और लडने पर आमादा हो जायेंगे।

इसके विपरीत, अगर कोई वात फीकी हो, फिर भी मौके पर कही गई हो तो वह मीठी लगती है। वरात मे गालियो के विना वहुतो का मनोरजन ही नही होता।

हाँ, तो वीरवल को मन की वात कहने का अवसर मिल गया। उसने कहा—जहापनाह ! यह मक्खी पूर्वजन्म मे आपकी तरह राजा थी, परन्तु इसने करने योग्य काम नही किये। जवानी मे

अभिमान किया। गुरु की सेवा नही की। विपुल वैभव होने पर भी दान नही दिया। वडो का आदर सत्कार नही किया, अकड मे भूला रहा। भगवान् का नाम नही लिया। वह राजा भी किस काम का जो भगवान् को भुला दे ?

ते सुख माथे धूल पड़ो जो प्रभु से दूर कराय।
वलिहारी उस दु:ख की, प्रभु से देत मिलाय ॥

तो उस राजा ने सत्यभापण नही किया। पराई वहिन-वेटी को देखकर आँखे ललचाईं। यह सव दुष्कर्म स्मरण करके आज यह मक्खी माथा घिस रही है और आपको सावधान कर रही है।

वादशाह ने मुस्करा कर कहा—क्या तुम इसी अवसर की ताक मे वैठे थे ?

वीरवल के कथन से वादशाह को वोध मिला।

आठवे देवलोक के देवता भी कर्म के वशीभूत होकर शूकरी के गर्भ मे उत्पन्न हो जाते हैं। मिनिटो मे नक्शा वदल जाता है। अतएव मनुष्य को पहले ही सचेत होकर अपने कर्त्तव्य का पालन करना चाहिए।

जो साधु होकर भी कपट की माया से मुक्त नही होते वे अपने को धोखा देते है और जगत् को धोखा देते हैं। जिसके चित्त मे कपट भरा है, उसका मन अरिहन्त के गुणग्राम मे स्थिर नही हो सकता। आपको विदित है कि जिसके पास माल है वह अपनी दुकान पर टिकता है, परन्तु विना माल का मनुष्य इधर-उधर भटकता है। ऐसे आवारा मनुष्य को सरकार गिरफ्तार कर लेती है।

जीवन का कोई लक्ष्य होना चाहिए, आदर्श होना चाहिए,

आत्म-देश-जाति के उत्थान का उद्देश्य मनुष्य के सामने होना चाहिए। जिस जीवन का कोई उद्देश्य नही है, वह प्रशस्त नही होता। अतएव अपने जीवन का एक उद्देश्य निश्चित कर लो और उसकी प्राप्ति के लिए ही अपनी शक्तियो का प्रयोग करो। वचन-शक्ति को केन्द्रित कर लेने पर भी जवतक मन की शक्ति केन्द्रित नही की जाएगी, तवतक यथेष्ट लाभ न होगा। मन का केन्द्रीकरण-आत्मा को वल प्रदान करता है। वाणी का काम बोलना है और मन का काम मतलव समझने का है। दोनो का जव समन्वय होता है तभी काम चलता है।

जैसे कान के साथ शव्दो के टकराने से नीद उडती है, उसी प्रकार आत्मा के साथ भगवद्वाणी का सम्वन्ध होने से आत्मा मे जागृति आती है। विजलीघर से तभी विजली घर के वल्व मे आती है जव घर का तार विजली घर के तार से लिपट जाता है। अतएव अगर आप अपनी आत्मा को जागृत करना चाहते हैं, आत्मा मे प्रकाश उत्पन्न करना चाहते है और परमानन्द की प्राप्ति चाहते हैं तो आपको परमात्मा के साथ अपनी आत्मा को जोड़ देना चाहिए। इसी से आप को सिद्धि प्राप्त होगी।

वोलो भगवान् महावीर की जय।

राजकोट
२०—८—५४

भगवद्भजन

धर्म प्रेमी वन्धुओ और वहिनो !

कल आपको वतलाया था कि परमानन्द की प्राप्ति के लिए आत्मा को परमात्मा के साथ जोड देने की आवश्यकता है। मगर परमात्मा का स्मरण करने वाला साधक (जो मनुष्य के शरीर मे ही केवल ज्ञान केवल दर्शन प्राप्त कर महान आत्माएँ शाक्षात् भगवान् वन गई है) उनके हाड-मास के शरीर का स्मरण नही करता, न उनके राजावस्था के मुकुट या शृगार का ही स्मरण करता है। शरीर और शरीर के आभूषण आदि अन्य पदार्थो की ओर आकर्षित होकर उनका चिन्तन करना तो उदयभाव की बात है। स्मरण करने वाला सच्चा भक्त तो भगवान् मे रहे हुए गुणो का ही स्मरण करता है। जिन विशेषताओ या खूवियो के कारण भगवान् भगवान् कहलाए, वही भक्त के लिए स्मरणीय है। उन्ही के स्मरण से भक्त की आत्मा मे भागवती शक्ति का अविर्भाव होता है।

परन्तु भगवान् के गुणो का सच्चा स्मरण कव कहा जाता है ? जव भक्त अपने तीनो योगो को—मन, वचन और काय को, प्रभु के प्रति समर्पित कर देता है। योगो को दुनियादारी के कामो से हटाकर प्रभु के गुणो मे लगा देना ही सच्चा प्रभुस्मरण है। इस प्रकार के स्मरण से निस्सन्देह शान्ति प्राप्त होती है।

दुर्गुणो और विषय-विकारो का चिन्तन आत्मा के शान्तिरस को विकृत करने वाला है। अग्नि, सूर्य और धूप की तरफ देखने से आँखो को अशान्ति प्राप्त होती है और जलाशय की तरफ देखने से शान्तिलाभ होता है। इस तथ्य को प्रमाणित करने के लिए न किसी पण्डित की सम्मति की आवश्यकता है और न शास्त्र के पन्ने पलटने की। जो बात अनुभव से सिद्ध है, वह स्वत प्रमाणित है।

पानी मे अशान्ति नही है तो वह अशान्ति कहाँ से देगा ? वह स्वभाव से शीतल है तो शान्ति ही प्रदान करता है। हाँ, जो पानी अग्नि के ससर्ग से सतप्त है, वह दूसरो को भी सताप पहुँचाता है।

पानी का गर्म होना स्वाभाविक नही, वैभाविक है। अग्नि रूप परपदार्थ के सयोग से उस मे उष्णता का विकार उत्पन्न होता है। इसी प्रकार आत्मा मे स्वभावत अनन्त शक्ति विद्यमान है, परन्तु कषाय राग द्वेष आदि पदार्थो के सयोग से उसमें अशान्ति उत्पन्न होती है। जितना-जितना पर-पदार्थो के साथ आत्मा का ससर्ग बढता जाता है,उतना-उतना ही आत्मा मे विकार बढता जाता है और जितना-जितना विकार बढता जाता है, उतना-उतना सताप बढता जाता है। अतएव जिन्हे आत्मिक शान्ति का लाभ करना है, उनके लिए सिर्फ एक ही उपाय है कि वे परपदार्थो के साथ स्थापित सम्बन्ध को काटते चले जाएँ और अन्त मे आत्मा के अतिरिक्त अन्य समस्त पदार्थो को भिन्न समझ कर सिर्फ आत्मा मे ही रमण करे और किसी भी पदार्थ के प्रति राग न रहने दे।

समस्त दु खो, कष्टो और पीड़ाओ का मूल कारण परपदार्थो मे आत्मभाव या ममभाव स्थापित करना है। इससे राग-द्वेष की वृत्ति को प्रसार मिलता है और राग-द्वेष ही दु ख है।

मूर्ख मनुष्य मानता है कि मुझे अमुक ने कष्ट दिया और मुक ने मेरा अनिष्ट किया, परन्तु सत्य यह है कि दुख की सृष्टि मनुष्य के अन्त करण मे होती है। चित्त मे राग-द्वेष के जो वीज विद्यमान हैं, उन्ही से समस्त दुखो के अकुर फूटते है। अन्तरात्मा जीव इस तथ्य को समझता है पर वहिरात्मा नही समझता। यही कारण है कि उसके लाख प्रयत्न करने पर भी दुखो का अन्त नही आता है। परमार्थदर्शी पुरुष दुख उत्पन्न होने पर किसी दूसरे पर उसका उत्तरदायित्व नही डालता, वरन् अपने आपको ही उत्तरदायी मानता है और दुख के कारणभूत कर्मो के उन्मूलन का प्रयास करता है। ऐसा करने से प्रथम तो उसके चित्त मे दूसरो के प्रति विपमभाव उत्पन्न नही होता, दूसरे वह दुखो का अन्त करने मे भी समर्थ हो जाता है।

अगर कोई मुझसे पूछे कि अत्यल्प शब्दो मे समस्त शास्त्रो का सार क्या है ? तो मैं उसे यही उत्तर दूँगा कि—'राग-द्वेष को नष्ट करना।' इस छोटे-से वाक्य मे हो विस्तृत शास्त्रो का रहस्य अन्तर्गत हो जाता है। इसी प्रयोजन के लिए शास्त्रवर्णित साधना है। जिसने साधना करके भी राग-द्वेष का क्षय न कर पाया, उसकी साधना निष्प्रयोजन है। जिसने राग-द्वेष का अन्त करके वीतरागता प्राप्त कर ली, उसे साधना की कोई आवश्यकता ही नही रही। वीतरागता प्राप्त होते ही आत्मा इतनी स्वच्छ और निर्मल हो जाती है कि सर्वज्ञता और सर्वदर्शिता अनायास ही प्रकट हो उठती है और आत्मा परमात्मा का परम पद प्राप्त कर लेता है।

इस उन्नत अवस्था को प्राप्त करने के लिए हमे सदैव वीत-रागता का आदर्श अपने समक्ष जीवित रखना चाहिए। हमारा उपास्य

देव भी इसी प्रकार का वीतराग होना चाहिए और हमारे पथप्रदर्शक गुरु मे भी वीतरागता की साधना चाहिए।

हमारा आदर्श, जिसे भगवान् कहो, ईश्वर कहो या परमात्मा आदि किसी दूसरे नाम से पुकारो, अगर स्वय क्रोधी, मानी, मायावी या लोभी हो, कषायो की आग से सतप्त हो तो वह हमे कैसे शान्ति पहुँचा सकेगा ? स्वयं जलने वाली आग से हम शीतलता पाने की आशा नही कर सकते।

पानी देखने से, उसके सन्निकट वैठने से और उसमे डुवकी लगाने से शान्ति मिलती है। इसी प्रकार निर्विकार, निर्दोष, वीतराग परमात्मा के स्तवन, कीर्त्तन, और गुणगान से आन्तरिक शान्ति प्राप्त होती है। भगवद्गुणों मे डुवकी लगाने से पूर्ण शान्ति मिलती है, क्योकि वे गुण भक्त मे भी जागृत हो जाते है और वह भी सिद्ध वन जाता है।

प्रत्येक कार्य की सिद्धि के लिए, चाहे वह लौकिक हो या आध्यात्मिक, द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव रूप चार कारण आवश्यक है। शुद्ध भाव की प्राप्ति के लिए ये चारो कारण शुद्ध होने चाहिएँ।

हमारा लक्ष्य शुद्ध भाव ग्रहण करने का है या अशुद्ध भाव ग्रहण करने का ? अशुद्ध भाव को ग्रहण करने का तो कोई प्रश्न ही उपस्थित नही होता, क्योंकि जीव अनादि काल से अशुद्ध भावो मे ही मस्त हो रहा है। उसके लिए नए सिरे मे कोई प्रयत्न करने की आवश्यकता ही नही है। अशुद्धता से शुद्धता की ओर जाने के लिए ही प्रयत्न करना आवश्यक है। जो आत्मा अशुद्ध से शुद्ध वनना चाहता है, उसे उस दिशा मे प्रयत्न करना चाहिए। प्यासे को जलाशय की ओर जाना ही पडता है।

मगर एक वात स्मरण रखिए। पानी मे उन्ही लाभो की अपेक्षा रखनी चाहिए जो उससे प्राप्त हो सकते हो। पानी से लज्जा निवारणार्थ वस्त्र नही मिल सकते, क्षुधा की निवृत्ति के लिए भोजन नही मिल सकता। पानी से प्यास वुझ सकती है, गर्मी मिट सकती है और मलीनता दूर हो सकती है। मगर जो चीज़ पानी से नही प्राप्त हो सकती, उसके लिए पानी की शरण मे जाना निरी मूर्खता है। इसी प्रकार भगवान् से भी उन्ही वातो की अपेक्षा रखनी चाहिए जो उन मे विद्यमान हैं। जो वस्तुएँ भगवान् के पास है ही नही, जिनका वे स्वय त्याग कर चुके है, उन्ही वस्तुओ की प्राप्ति के लिए भगवान् का भजन और स्मरण आज कितने ही लोग करते हैं। यह कितने खेद की वात है! ऐसे लोग लौकिक कामनाओ से प्रेरित होकर भगवान् के पास जाते हैं, पर आध्यात्मिक उन्ननि की वात भूल जाते है।

भगवान् के पास सच्चा ज्ञान है, सच्ची दृष्टि है और यथाख्यात चारित्र है। अक्षय आनन्द और अनन्त शक्ति है। यही गुण हमें भगवान् की उपासना से मिल सकते है। परन्तु जैसे मूर्च्छित अवस्था मे मनुष्य को अपने शरीर और वस्त्र आदि का भान नही रहता, उसी प्रकार मिथ्यात्व का उदय होने पर वह वेभान हो जाता है। यही कारण हे कि मनुष्य न माँगने लायक वस्तु भी भगवान् से माँग वैठता है। वह मिथ्यात्वग्रस्त होने से यह वात भूल जाता है कि जिसके पास मैं जिस वस्तु की प्रार्थना करता हूँ, वह उसके पास है भी या नही?

किसी ने कहा—अमुक का लडका वडा सुन्दर और समझदार है, परन्तु उसे मिरगी का दौरा आता है। मिरगी के दौरे के कारण

उसको समझदारी काम नही आती। यही बात ससारी जीवो पर लागू होती है। वे लौकिक व्यवहार के कार्यो मे बडे निपुण है परन्तु आध्यात्मिक क्षेत्र मे भूल रूपी उन्हे मूर्छा आ जाती है। जो लोग व्यवहारशास्त्र मे पारगत है, वे भी अध्यात्म-मार्ग मे वडी भूल कर वैठते है।

हॉ, तो जो वस्तु भगवान् के पास नही है, वह वस्तु भगवान् से मॉगने वाला पागल ही है। भगवान् की प्रार्थना करते समय या उनका चिन्तन करते समय जो लोग दूध, पूत, सपत्ति या मुकदमे मे विजय प्राप्ति की मॉग करते है, वे मूर्खता करते है। इस प्रकार की माँग कर-करके आजकल के लोगो ने भगवान् की मिट्टी पलीद कर रक्खी है। कई लोग अपने छोकरे की शादी के लिए भगवान् की प्रार्थना करते है और छोकरे अपनी शादी के लिए भगवान् की स्तुति पढते है। ऐसे लोगो को किस प्रकार समझाया जाय कि त्यागी से भोग सामग्री माँगना महा अनर्थ की वात है। जिन्होने ससार की सारी सम्पत्ति और भोग की सामग्री तीन करण और तीन योग से ज़हर के समान समझ कर त्याग दी, उनसे वही भोग-सामग्री मांगना कितनी वडी नादानी है!

आज कौन-सा वडा पाप है जो भगवान् के नाम पर न किया जाता हो? मुसलमान वकरा-ईद के अवसर पर लाखो वकरो की कुर्वानी करते है। रहमाने रहीम कह कर पशु के गले पर वेरहमी से छुरी चलाते है। इस प्रकार जो रहमाने रहीम है, जिसकी यह मख़लूक है, सारी सृष्टि जिसकी प्रजा है, उसी के नाम पर उसकी प्रजा का कत्ल कर डालते है। खुदा की मखलूक मानते हुए उसकी सृष्टि को वर्वाद कर देते है। वगीचा लगाने वाला लगाता है और

ये उसे तहसनहस कर डालते है। धर्म के नाम से करोडो प्राणियो का खून कर दिया जाता है। पर जो इन्सान एक भी प्राणी को बनाने मे समर्थ नही है, उसे किसी को मारने का क्या अधिकार है ? हिन्दू लोगो मे भी धर्म के नाम पर हिसा करने का रिवाज है। देवो-देवताओ के नाम पर बकरो और भैसो का बलिदान किया जाता है।

खेद की बात है कि जैन कहलाने वाले भी धर्म के नाम पर एकेन्द्रिय जीवो की हिसा करते है। पर्व के दिनो मे भी, जब वे स्वय हरी वनस्पति नही खाते, भगवान् के सामने उसे चढाते है। सवत्सरी का दिन जैनो के लिए महान् पर्व का दिन है। इस दिन समस्त आस्रवो का त्याग करके सवर और दयाधर्म की आराधना की जाती है। पर्युषण के आठों दिनो मे अधिकाश जैन सचित्त वनस्पति के आहार का त्याग करते है। घर मे हरी नही आने देते और अपने बच्चो को भी हरी नही खिलाते, परन्तु भगवान् के सामने फूल-फल आदि सचित्त वनस्पति चढाते है।

भगवान् से धन आदि माँगते हैं। ब्रह्मचारी से छोकरा-छोकरियो की माँग करते हैं। छोकरा-छोकरी मैथुन-सृष्टि है। भगवान् से उनकी माँग करना कितना बडा अनर्थ है !

आज के भक्तो ने भगवान् के नाम पर करोड़ो रुपया इकट्ठा कर रक्खा है, जिसे 'देवद्रव्य' कहा जाता है। वह सेठद्रव्य नही, राजद्रव्य नही, देवद्रव्य कहलाता है। जिस देव का वह द्रव्य है, वह कौन है ? वह परम वीतराग देव है जो देवाधिदेव तथा परिग्रह से सर्वथा रहित है। कितना आश्चर्य ! कितना विस्मय ! मगर किसे कहे ? और कौन सुनता है ?

देवद्रव्य की व्यवस्था करने के लिए अनेक गुमाश्ते काम करते हैं। बहुत बडी पीढी चल रही है, इतनी बडी पीढी कि शायद राजकोट में भी उसकी बराबरी की कोई पीढी नही होगी।

असल मे लोग छुप कर तीर चलाते हैं। भगवान् की आड मे अपनी स्वार्थवृत्ति का पोषण करते है।

देवद्रव्य की समस्या को लेकर दो दल हो गये हैं। एक दल, जिसमे साधु और श्रावक दोनो सम्मिलित हैं, इन्किलाब-क्रान्ति चाहता है। उस दल का कहना है कि जिन भगवान् को भूषणों, भवनो और वस्त्रो की आवश्यकता नही, उनके नाम पर लाखो-करोडो रुपया जमा कर रक्खा गया है और उन्ही भगवान् के भक्तों के लिए, जिन्हे रोजगार और रोटी की आवश्यकता है, उसमे से एक फूटी कौडी भी खर्च नही की जाती। यह कहाँ तक उचित है ? पिता के छोकरे-छोकरी भूखो मरते है, उन्हे तन ढँकने को सादा वस्त्र भी नही मिलता है! लानत है उस धन पर जो छोकरा-छोकरियो के काम न आवे। जिनको जरूरत है उनके काम न आवे और मुखिया लोग उस धन से अपना व्यापार चलावे मुनाफा कमाएँ और मौज करे। कहते है—देवद्रव्य का उपयोग करने वाला नरक मे जाता है, परन्तु क्यो नरक मे जाएँ ? बाप का धन खाने वाले बेटे नरक मे क्यो जाएँगे ? भगवान् तो सब से बडे, पिता हैं, उनके द्रव्य का उपयोग कौन करेगा ? आखिर भगवान् तो उस द्रव्य का उपयोग कर नही सकते, किसी न किसी रूप मे भक्त ही उसका उपयोग करते हैं। तो फिर उचित रूप मे ही उसका उपयोग क्यो न किया जाय ? यह एक दल की दलील है।

मगर दूसरा दल, जो पुराणपंथियो का है, इस विचार का

विरोधी है। वे जैन समाज की उन्नति के कार्यों मे देवद्रव्य का उपयोग करने के खिलाफ हैं। इस दल मे अधिकाश लोग वह जान पडते हैं जो देवद्रव्य मे अपना व्यापार चला रहे हैं। देवद्रव्य ऐसे लोगो के पास जमा होता है। थोडे व्याज पर वे रुपये जमा रखते हैं और उस से व्यापार करके मुनाफा उठाते हैं। उनके पास से वह पूँजी निकल जाय तो कइयो का व्यापार ठप्प हो जाय। अतएव वे उसको कल्याणकारी अन्य सामाजिक कामो मे व्यय नही होने देते।

मगर समय बदल गया है और समय के साथ कतिपय समझदार गुरुओ के विचार भी बदल गये है। वे भगवान के भक्तो की सहायता के कार्य मे देवद्रव्य का उपयोग करना उचित समझते हैं। शिक्षण आदि कार्यों मे देवद्रव्य के उपयोग का हिमायती पक्ष बढता जा रहा है। कई जगह इस द्रव्य से शिक्षा सस्थाएँ चलने भी लगी है।

एक नौजवान ने समाचारपत्र मे एक लेख लिखा है। वह लिखता है—भगवन् ! तू दयालु नही है, तू त्यागी नही है, तू योगी नही है, यहाँ तक कि तू उदार भी नही है। अगर तू दयालु और त्यागी होता तो तेरे नाम पर जो धन है वह क्या तेरे भक्तो के काम न आता ? तू त्यागी कैसे कहा जा सकता है जबकि बिजली की चमचमाहट मे रहता है, भव्य भवनो मे विराजमान है, मस्तक पर मुकुट शोभायमान हो रहा है। खासा महाराजा-सा मालूम होता है। इत्यादि बहुत कुछ लिखा है, उसने यह बड़े दु ख से लिखा है। समाज मे चलती हुई बाधली को देख कर उसका हृदय आहत हो उठा है। सचमुच आज की दुरवस्था देख कर किसके दिल मे दर्द न होगा ?

देवद्रव्य की चाबी जिनके हाथ मे रहती है उनमे से कई

स्वयं ही उस द्रव्य को हडप जाते है। वेचारे गरीव और जरूरतमद उस द्रव्य को खाएँ तो नरक मे जाएँ और वड़े-वडे खाएँ तो धर्म-धुरन्धर कहलाएँ। गरीवो को वडा दुर्दशा है। जो वायु छोटे-से दीपक को वुझा देती है वही जगल मे प्रज्वलित दावानल को और अधिक प्रज्वलित करती है। ग्रहण भी लगता है तो वेचारे पानी को लगता है। घी,दूध, पेडा और गाठिया को नही लगता। घी आदि मे दाभ (घास) रख दिया जाता है और उसकी पवित्रता की रक्षा कर ली जाती है। मगर दाभ क्या भीम की गदा है या एटम वम है, जिसके डर से ग्रहण दूर भाग जाएगा? और क्या पानी के लिए दाभ नही मिलता है? जो पानी स्वय शुद्ध माना जाता है और दूसरी अशुद्ध चीजो को भी शुद्ध करने वाला है, वह स्वय अशुद्ध कैसे हो जाता है? सच वात तो यह है कि पानी मुफ्त मे मिल जाता है, उसके लिए पैसे खर्च नही करने पड़ते। अतएव उसकी कोई कद्र नही की जाती। घी-दूध के लिए पैसा खर्च करना पडता है। उन्हे ग्रहण लग जाए तो गजव हो जाय। इसी से उन्हे ग्रहण नही लगता।

विरादरी का कोई गरीव आदमी थोडा-सा भी अपराध करता है तो उसे जातिच्युत कर दिया जाता है। किन्तु धनवान्, समर्थ या वडा समझा जाने वाला व्यक्ति वड़े से वडा कुकर्म कर डाले तो भी कोई उसकी ओर उँगली नही उठा सकता।

इस प्रकार जहाँ देखो वही धाधली चल रही है। न्याय-नीति और निष्पक्षता के दर्शन दुर्लभ है।

एक गॉव की वात है। सब पचो ने मिल कर जातीय रीति-रिवाजो का निर्धारण कर लिया; जैसे वरात मे अमुक सख्या से

अधिक व्यक्ति न जाएँ, टीके मे अमुक रकम से अधिक न ली जाय, आदि-आदि। इस प्रकार निश्चित हो जाने के पश्चात्, दैवयोग से सर्वप्रथम विरादरी के मुखिया—पच के पुत्र की गादी का अवसर आया। लडकी वाले ने कुछ वस्तुएँ भेजी। उन्हे देख कर पच परमेश्वर का पारा गरम हो गया। लाने वाले से उन्होने कहा—व्याई अर्थात् समधी जी ने इतनी कम सामग्री भेज कर हमारा अपमान किया है। हमारे खानदान का, हमारे नाम का और हमारे रुतवे का उन्होने कुछ भी खयाल नही किया। जाओ, चले जाओ और ये वस्तुएँ भी वापिस लेते जाओ। हाथी का भार हाथी ही उठा सकता है, गधा वेचारा क्या उठाएगा ?

अरे माया के लोभी जीव ! तू क्यो अभिमान से फूल रहा है ? हाथी को गधा वनते देर नही लगती। ससार का नियम है कि—

नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ।

रथ की चक्रनेमि जैसे ऊपर-नीचे घूमती रहती है, उसी प्रकार ससारी जीवो की दशा मे भी परिवर्त्तन होता रहता है। कभी दशा विगडती है तो कभी सुधरती है और कभी सुधर कर फिर विगड़ जाती है। धनवान् गरीव वन जाता है और गरीव धनवान् वन जाता है। कल जो महाराजाधिराज कहलाते थे, आज वे राज्यगद्दी से च्युत हो कर गलियो मे भटकते हैं। कल जो रानी थी आज वही अभिनेत्री वनने की तैयारी करती है।

जो दूसरे का अपमान करता है वह अपना ही अपमान करता है। कुएँ मे मुख डाल कर वोलने वाला वही शब्द सुनता है जो वोलता है। 'भाई' कहेगा तो 'भाई' सुनने को मिलेगा और मूर्ख'

शब्द का उच्चारण करेगा तो 'मूर्ख' शब्द ही सुनने को मिलेगा। जैसा तू दूसरो के प्रति व्यवहार करेगा, वैसा ही दूसरो से पाएगा। 'इस हाथ दे उस हाथ ले' की कहावत यहाँ चरितार्थ होती है। जैसा करोगे वैसा भरोगे!

व्याई जी का नौकर वड़ा चलतापुर्जा था। उसने कहा—सेठ साहव! हमारे सेठ जी धन, जन, मन और कन मे किसी से कम नही है। उनके पास विशाल सम्पत्ति है, वडा परिवार है, वे उदारमना है और उनका घर सब तरह से भरपूर है। परन्तु आपकी विरादरी ने जो नियम वनाये है, उनका पालन करने की दृष्टि से ही उन्होने अधिक सामग्री न भेज कर मर्यादित ही भेजी है। आप चाहेगे तो इसकी कमी कभी भी पूरी कर दी जाएगी।

नौकर की सफाई सुन कर सेठ की बोलती वद हो गई। वह अभिमानी पच फिर भी हठपूवक वोला—हमने जो नियम वनाये है वे जाति के दूसरे लोगो के लिए हैं। मैं मुखिया हूँ, अतएव वे नियम मुझ पर लागू नही होते। अथवा—हमने देने की वस्तुओ का नियम वॉधा है न कि लेने की वस्तुओ का!

सेठ के आदमी ने व्यगपूर्वक कहा, धन्य है, आप जैसे मुखिया पच को।

सज्जनो! मुखिया को स्वय आदर्श वनना चाहिए। उसे अनुभव करना चाहिए कि समग्र जाति का उत्तरदायित्व मुझ पर है और जाति मे सव धनवान् नही होते, धनवान् विरले और मध्यम श्रेणी वाले तथा गरीव अधिक होते हैं। अतएव ऐसे ही नियम उपयुक्त हो सकते है जो देश काल के अनुरूप होने के साथ बहुजनसमाज

को असुविधाजनक न हो। फिर जो नियम बनें, श्रीमन्तो को उनका पालन करना चाहिए। उनके पालन करने से ही दूसरे लोग भी उनका पालन करते है। परन्तु आज के श्रीमन्त धन के अभिमान मे चूर होकर अपने गरीब जातिभाइयो की परवाह नही करते, अतएव जाति के लोग भी अब उनकी परवाह नही करते। परिणामस्वरूप जातिव्यवस्था आज मरणासन्न हो रही है। कितने ही लोग सोचने लगे हैं कि जाति हमे क्या लाभ पहुँचाती है? उसमे रहने से क्या बनता है और न रहने से क्या बिगडता है? इस प्रकार के प्रश्नो का जाति के मुखिया लोगो के पास आज क्या उत्तर है? लोग जाति के शासन को किस लाभ के लिए स्वीकार करे? जिस जाति मे अपने किसी असमर्थ भाई की सहायता करने की वृत्ति नही, वह कैसे अपना शासन मनवा सकती है?

जाति के मुखिया के लिये इन बातो पर आज गभीर विचार करना आवश्यक हो गया है। अगर मुखिया अनुकूल नियम बना कर स्वय उसका पालन करेगा तो दूसरो पर भी उसका प्रभाव पड़ेगा।

सब तीर्थकरो ने उन्ही बातो का उपदेश दिया है जिन्हे उन्होने स्वय अपने जीवन मे उतारा है। अपनी साधना को पूर्णता पर पहुँचाने से पहले उन्होने उपदेश नही दिया। यह कितना महान् आदर्श है!

मगर आज तो अधेरगर्दी चल रही है। सर्वत्र स्वच्छन्दता का साम्राज्य है। अपने लिए कुछ और दूसरो के लिए कुछ और ही नियम बनाये जाते है। गरीब देवद्रव्य खाये तो नरक मे जाएँ और बड़े-बड़े लोग खाएँ तो न जाएँ! मैं कहूँगा कि जो द्रव्य किसी मानव की भलाई के काम नही आता, वह मुर्दाद्रव्य है।

मुसलमानो की मान्यता है कि कब्रो मे गाडे हुए सब मुर्दे कयामत के दिन उठ खडे होते है। तब उनके पुण्य-पाप का हिसाब होता है। आज की स्थिति कयामत से क्या कम है! कही बाढ है तो कही दुष्काल है। ऐसे समय भी अगर यह मुर्दा धन काम मे न आएगा तो फिर कब काम आएगा ?

सच तो यह है कि देव की आड मे लोग अपनी पीढियाँ चला रहे है। जब अनाज का कट्रोल था तो लोग तग और परेशान हो गए थे। चारो ओर से कट्रोल हटा देने की आवाज उठाई जा रही थी। मगर जिन लोगो का कट्रोल बना रहने से स्वार्थ सिद्ध होता था, उन्होने अधिकारियो को उल्टी-सीधी भिडाई और बतलाया कि कंट्रोल उठा दिया गया तो प्रजा भूखो मर जाएगी। वस्तुत उन स्वार्थियो को प्रजा की चिन्ता नही थी। उन्हे अपनी स्वार्थपूर्त्ति की ही फिक्र थी। जिस वस्तु पर कट्रोल होता है वह दबा दी जाती है और दुर्लभ बन जाती है। आज कट्रोल न होने से सब लोग अपेक्षाकृत अधिक सुविधा से अनाज पा लेते है। सारा कार्य ठीक चल रहा है। वस्तुत पदार्थो की कमी नही है, कमी है उदारता की।

आज का मनुष्य हीरा-पन्नो की कीमत करता है परन्तु वास्तविक कीमत दाने की है। ज्वार और बाजरे के दाने हीरा-पन्ना से बढ कर है। कुछ वर्ष पहले बगाल मे अकाल पडा तो कई लाख मनुष्य मर गए। हीरे-पन्नो के अभाव से मनुष्य नही मरता, अनाज के अभाव से मर जाता है। भूख लगने पर हीरे-पन्ने नही खाये जा सकते। उनसे प्राणो की रक्षा नही की जा सकती। उनकी रोटी नही बनाई जा सकती। वे हीरे किस काम के जिनसे गरीबो के पेट की ज्वाला न बुझे!

भोजन की कीमत भूखा जानता है, पानी की कीमत प्यासा और दवा की कीमत वीमार समझ सकता है। जिन लोगो के कोठे अनाज से भरे रहते हैं, उन्हे ही हीरे-पन्ने सूझते हैं। जब द्वादशवर्षीय अकाल पडा था तव जवाहरात देने वाले थे, परन्तु जवार देने वाले न मिले। कहिए कौन महँगा रहा ? धन या अनाज ?

देव के नाम पर धन पड़ा रहे और लोग भूखे मरे ! यह धन किस काम का ? मैं किसी पर आक्षेप करने की दृष्टि से नही कह रहा, एक सचाई को ही प्रकट कर रहा हूँ।

अगर भगवान् को प्रसन्न करना चाहते हो तो भगवान् के भक्तो की सुधि पहले लो। भक्तो को दु.ख देकर किसी ने भगवान् को नही पाया है। लोग, भगवान् कैसे मिले, यह पूछा करते है परन्तु भक्तो की वात कोई नही पूछता। साढे तीन हाथ का पुरुप, अनाथ विधवा और यतीम सामने खडा है, वह तो दिखाई नही देता और निराकार भगवान् के दर्शन करने चले हैं ! भगवान् मन्दिर, मस्जिद, गिरजाघर गुरुद्वारा या स्थानक मे नही है, वह तो मानव के हृदय मे निवास करता है। भगवान् का दर्शन करना है तो गरीवो की ओर देखो। उनके दु.ख को देखो। उनकी सेवा करो। देखने मात्र से दवा रोग नही मिटा सकती, जव उसका सेवन किया जाता है तव रोग मिटता है। सव से वड़ा धर्म दया है। आज लाखो मनुष्य ऐसे है जिन्हे पर्याप्त अन्न और वस्त्र नही प्राप्त है। वे न भरपेट भोजन पाते है और न अपनी लज्जा ढँक सकते है। ऐसी अवस्था मे फिजूल पडे हुए धन की तरफ लोगो का ध्यान जाना स्वाभाविक है।

मेवाड के लोगो मे धर्म के प्रति अनन्य श्रद्धाभाव विद्यमान है, परन्तु दारिद्र्यदेवता भी उनकी पूरी परीक्षा ले रहा है। मेवाडी

किसी के सामने हाथ नही पसारते, वह महाराणा प्रताप की भूमि के हैं। वहाँ की प्रजा बडी स्वाभिमानी है।

पढ के देखो दोस्तो उस राजपूती शान को।
लड़ते-लडते मिटते गये लेकिन न छोडा आन को।

मेवाड के निवासियो मे आत्मगौरव का भाव है, स्वाभिमान है। वहाँ के स्त्रीजन और पुरुष धर्म पर मर मिटना जानते हैं और धर्म की कीमत आँकना जानते है। मेवाड़ की कोमल राजकुमारियो ने हँसते-हँसते चिता पर अपनी आहुति दे दी, परन्तु मुसलमानो के अधीन होकर अपना धर्म भ्रष्ट न होने दिया। आज भी चित्तौड का किला अपना मस्तक ऊँचा उठाये, देश की स्वाधीनता के अर्थ मर मिटने की प्रेरणा करता हुआ और देशभक्तो की श्रद्धा को जगाता हुआ गौरव के साथ खडा है।

जिन लोगो मे स्वाभिमान नही है, वे ढेले से भी गये-बीते है। सच्चा मनुष्य वही है जिसमे अपने कुल का, धर्म का, राष्ट्र का स्वाभिमान हो, गौरव हो। जो अपने व्यवहार से इनका गौरव बढाता है, उसकी कीर्त्ति चिर-अमर हो जाती है।

तस्वीर के दोनो पहलू देखिए। ससार मे बहुत-से दुखी हैं। जिनके पास शक्ति है उन्हे दुखियो की सेवा करनी चाहिए। परन्तु पास मे पैसा होते हुए भी या कार्य करके उपार्जन करने की शक्ति रखते हुए भी दूसरो के आगे हाथ पसारना बुरी बात है। यह गौरव-हीनता का द्योतक है। स्वाभिमानी मर जाना पसन्द करता है परन्तु दीनतापूर्वक याचना करना अथवा हाथ पसारना पसन्द नही करता।

मुझे मालूम है कि कितनीक मेवाडी वहिनो के लँहगो मे वीस-वीस थेगलियाँ लगी है। परन्तु धर्म के प्रति उनमे अनन्य श्रद्धा-भाव है। वे भक्तिभाव से गुरुओ की सेवा करती हैं। जीवननिर्वाह के लिए कठिन परिश्रम करती रहती हैं। मैंने अपनी आँखो से ओसवाल वहिनो को मिट्टी ढोते देखा है।

कार्य करने मे क्या शर्म है ? शर्म तो उन्हे आनी चाहिए जो मुफ्त का खाते हैं। जव तक मजदूर न वना जाय तव तक ससार का काम नही चलता।

तो मेवाड मे उच्च-कोटि का श्रद्धाभाव है। परन्तु यहाँ क्या है ? यहाँ तो वहुत-से लोग महलो मे मस्त है। कई लोग ऐसे भी हैं जिनके मुझे अभी तक दर्शन ही नही हुए। उन्होने भी मेरे दर्शन नही किये। मैं तो उनके घर तक भी जाने को तैयार हूँ यदि कोई ले जाने वाला मिल जाय। किसी भी प्रकार से उन मे धर्म के प्रति श्रद्धाभाव जागृत हो जाय और वे आत्मा के कल्याण की ओर उन्मुख हो तो मैं अपना यहाँ आना सफल समझूँ, नही तो मुझे किसी से क्या लेना-देना है ?

मेवाडी लोग हाथ पसारना नही जानते। हाथ कौन पसारता है ? जो अपग हो। अन्धे, लूले, लँगडे, अथवा अन्य किसी कारण से जो आजीविका-उपार्जन करने मे असमर्थ वन गये हो, वे सहायता लेने के अधिकारी या पात्र गिने जाते है। शक्ति होते हुए भी जो लोग हाथ पसारते है, वे देश को अधोगति की ओर ले जाते हैं। जिस देश के लोग हरामखोर वन जाएँ, खाने के समय जा धमकें, सिनेमा के समय सिनेमा देखे और शेष समय मे इधर-उधर भटकते फिरें, वे

उस देश के गौरव को नही वढा सकते । वे देश के सामर्थ्य को क्षीण करते है । देश के भार है । देश, समाज और जाति के गद्दार हैं ।

कितने ही हरामखोर और कामचोर लोग दूसरो की दया और परोपकार की भावना का तथा उदारता का अनुचित उपयोग करके मुफ्त मे माल उड़ाते हैं । जिन्हे कमाने के लिए शरीर मिला है, हाथ-पैर मिले हैं, इन्द्रियाँ मिली है, सव साधन मिले हैं और जो परमार्थपाधना के कार्य मे भी नही लगे है, वे दूसरो पर वोझ क्यो वने ? वे अपने हाथो-पैरो से काम क्यो नही लेते ?

आज भारत मे छप्पन लाख साधु कहे जाते है । भारत के सभी सम्प्रदायो के साधुओ की यह सख्या है । यदि एक व्यक्ति का भोजनखर्च चार आना प्रतिदिन भी गिना जाय, जो अल्पतम है, तो भी चौदह लाख प्रतिदिन का खर्च आता है । जो साधु भग, तमाखू, सुलफा, गाजा आदि का सेवन करते हैं, उनका काम चार आने मे नही चल सकता । यो तो आज की महँगाई को देखते साधारण भोजन मे भी एक वार मे आठ आने खर्च हो जाते है, परन्तु मैं ने तो यथासभव कम से कम खर्च ही गिना है । इस प्रकार करीव वीस लाख रुपया प्रतिदिन इस साधुओ की वडी सेना पर व्यर्थ ही व्यय हो रहा है । जीवन मे साधना नही, सयम नही, कोई आदर्श नही, समाज के नैतिक या धार्मिक धरातल को ऊँचा उठाने की प्रेरणा भी इनसे मिलती नही । ऐसी स्थिति मे यह सव खर्च व्यर्थ जाता है । यही लोग अगर उच्च कोटि का जीवन विताएँ, उच्च शिक्षा प्राप्त करे और देश मे धर्म एव सदाचार का प्रचार करे तो कितना काम हो सकता है !

साँधने वाला चार अगुल साँधता है और फाडने वाला दो हाथ

फाड डालता है। लफगे मुफ्त का खा जाते है,परन्तु देश, समाज और जाति के काम नही आते। जो लोग पटरी से नीचे उतर गये है, मैं चाहता हूँ कि वे पटरी पर आ जाएँ। मेरा मतलब यह नही है कि किसी की सहायता न की जाए। जैनशास्त्र के अनुसार करुणादान के लिए सब पात्र माने गये है, मगर प्रत्येक कार्य के साथ विवेक जुड़ा रहना चाहिए। जैसे विवेकयुक्त करुणा न करना उचित नही है, उसी प्रकार विवेकहीन करुणा भी अनुचित हो जाती है। आपको अपने उन स्वधर्मी भाइयो की ओर अवश्य ध्यान देना चाहिए जो आजीविका का साधन ढूँढते है, पर पाते नही है। ऐसे लोगो की समाज मे कमी नही है। कमी सहायता करने वालो की है। अगर आप सहायता करेंगे तो वात्सल्य अग का पालन करके अपने सम्यक्त्व को अधिक उज्ज्वल बनाएँगे।

एक बार बादशाह अकबर ने बीरबल से पूछा—बीरबल! यदि तुम्हारी और मेरी दाढी मे एक साथ आग लग जाय तो पहले किसकी दाढी की आग बुझाओगे ?

बीरबल—हुजूर, पहले अपनी दाढी बुझाऊँगा, फिर आपकी।

बादशाह—तब तक तो मेरी दाढी जल कर खाक हो जाएगी। फिर क्या खाक बुझाओगे ?

बीरबल—हुजूर, मगर प्रकृति के नियम को कौन टाल सकता है ? प्रकृति की प्रेरणा से पहले मेरे हाथ मेरी दाढी की ओर ही बढेंगे।

अभेदभाव से विश्व के समस्त प्राणियो के साथ मैत्रीभाव रखना चाहिए। सब के प्रति अनुकम्पा की भावना होनी चाहिए। सब के उपकार का विचार रखना चाहिए। परन्तु सब की दाढी न

बुझा सको तो कम से कम अपने जातिभाई और स्वधर्मी भाई की तो बुझाओ। यह जो सघ आपके निकट बैठा है, एक सघ रूपी दाढी के बाल है।

सर्वप्रथम अन्त करण मे दयाभाव आना आवश्यक है, सामयिक और पौषध आदि क्रियाएँ पीछे है। अगर छोकरे सयाने हो तो पिता को कुछ न कहना पडे। थोडे सयाने हो तो सकेत से समझ जाएँ। अगर आप स्वय अपने कर्त्तव्य को समझ जाएँ तो मुझे कहने की कोई आवश्यकता ही न रहे। जब देखता हूँ कि आपके मन मे अपने कर्त्तव्य से प्रति कोई जागृति नही है तो मुझे कहने के लिए विवश होना पड़ता है।

आप सोचते होगे कि आज स्वामी जी देश की भूख की बात करते है। परन्तु मे क्या करूँ, तीर्थकरो ने भी यह बात की है। आखिर धर्म का आचरण कौन करेगा ? जिन्दा या मुर्दा ? जीवन की रक्षा का खयाल पहले किया जाता है, क्योकि जीवन रहेगा तो धर्म भी किया जा सकेगा। जीवन ही जब खतरे मे पडा हो तो धर्म करने की किसे सूझती है ?

मेवाड की जनता को देखो, उसमे कितना स्वाभिमान और धर्मप्रेम है! बम्बई से चल कर मैं यहाँ आया हू। उधर मार्ग के ग्रामो मे जो मेवाडी रहते है, वे दस-दस मील चल कर दर्शनार्थ आए। और यहाँ मै आ गया हू, तब भी कइयो ने दर्शन नही किए। इसका कारण शायद यही है कि कोठी मे अनाज भरा है। सुख मे न धर्म याद आता है, न परमात्मा—

दुख मे सुमिरन सब करे, सुख मे करे न कोय।
जो सुख मे सुमिरन करे, दुख काहे को होय ?॥

कार्तिक मास में सनातनी लोग नहाने का माहात्म्य मानते हैं। बूढी और जवान महिलाएं गाती हुई स्नान करने जाती है। ऐसी बूढी स्त्रियाँ भी जाती है जो मांगलिक सुनने भी साधु मुनिराजो के पास नही आ सकती। वे गिरती-पडती, लडखडाती हुई भी स्नान करने गये विना नही रहती। राम-राम करती हुई नहाती है। सर्दी लगने के कारण उनके मुख से राम नाम जल्दी निकल आता है। फिर घर लौट कर रुई के वस्त्र ओढ़ कर सो जाती हैं। ठंड मिट जाने से नींद आ जाती है, मानो राम जी भी सो जाते हैं। इस प्रकार जो बुढ़िया ठंड लगने पर राम राम करती थी, वही गर्म गद्दे मे रामजी को भूल जाती है।

दुःख के समय साधारण मानव अपने गौरव को भी भूल जाता है। उसमे प्राय. दैन्य आ जाता है। मगर मेवाडी लोग महाराणा प्रताप की दी हुई गौरव की विरासत को नही भूलते।

हाँ, तो परिश्रम न करना और खाने के समय तैयार रहना कहाँ का न्याय है? मैं कमाई करने का पाठ तुम लोगो को नही पढा सकता। इस विषय मे तो स्वय बहुत होशियार हो। मैं जो कहना चाहता हूँ वह यही कि जिन स्वधर्मी भाइयो के पास धधा न हो, उन्हे धधे मे लगाना धर्मप्रेमी श्रावक अपना कर्त्तव्य मानता है।

हमारे पास लौकिक धधा नहीं है। जो धधा है, उसे कोई स्वीकार करने को तैयार नही है। कितनी बाइयाँ तो हमारा धधा स्वीकार करती है अर्थात् सयम अंगीकार करके दीक्षा पालती हैं, परन्तु मर्द तो प्राय दूर-दूर ही रहते हैं। मगर इस पूंजी से हमारा धधा कब तक चलेगा?

तो ये लोग हमारा धधा नही स्वीकार करते परन्तु तुम्हारा

घधा तो स्वीकार कर सकते है। अतएव अपने भाइयो का ध्यान रक्खो। सहायता देने वालों को और सहायता लेने वालो को, दोनो को ही अपना-अपना कर्त्तव्य समझना चाहिए और पालन करना चाहिए।

भगवान् के नाम का विपय चला था। भगवान् का नाम लेने की सार्थकता तभी होगी जव पहले दुखियो का नाम लोगे कि अमुक मनुष्य दु ख मे है, अमुक कष्ट मे है। इसके साथ ही उनके दु ख को दूर करने का प्रयत्न भी करना चाहिए और उन्हे धर्म मे लगाना चाहिए।

धर्म के चार साधन है—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। द्रव्य आदि चारो शुद्ध भी होते है और अशुद्ध भी हो सकते है। जैसा कारण होगा वैसा ही कार्य भी होगा। शुद्ध साधनो से शुद्ध साध्य की प्राप्ति होती है। चारो कारणो के एकीकरण से आत्मा का कल्याण होता है। शुद्ध हृदय से त्रिकरण त्रियोग पूर्वक भगवान् का भजन करने से आत्मा अपने भूले हुए स्वरूप को जान लेती है।

सज्जनो! अन्त मे मुझे यही कहना है कि भगवान् का भजन करने के साथ आपके ऊपर भगवान् के शासन की रक्षा और प्रभावना का भी उत्तरदायित्व है। यह उत्तरदायित्व चतुर्विध सघ का है, परन्तु गुरु के नाते साधु और साध्वी का विशेप फर्ज है। जो माता-पिता अपने वेटा-वेटी का ध्यान नही रखते कि वे कहाँ जाते है, किसकी सगति करते है, वे अपने कर्त्तव्य का पालन नही करते। यही वात सघ के विषय मे भी समझनी चाहिए।

जैसे आप दुकानदारी का ध्यान रखते हैं, उसी प्रकार धर्म

का भी खयाल रक्खो। आपका धर्म की ओर ध्यान होगा तो दूसरो को हमारे समाज को लूटने का साहस न होगा।

मै चाहता हूँ कि व्याख्यान समाप्त होने के बाद कुछ लोग मुझसे मिले। मुझे सघ की उन्नति के सम्बन्ध मे कुछ सूचनाएँ करनी है।

सघ की उन्नति मे ही व्यक्ति की उन्नति है, ऐसा मान कर आप उत्साहपूर्वक सघसेवा करेंगे तो आपका कल्याण होगा और वीरसघ का अभ्युदय होगा।

राजकोट
२१—८—५४

शुद्धि

अरिहन्त अरिहन्त० ।

धर्मप्रेमी वन्धुओ और वहिनो !

व्याख्यान का प्रधान चालू विपय अध्यात्मवाद है । उसके मुख्य चार मुद्दे है—(१) आत्मवाद (२) लोकवाद (३) क्रियावाद और (४) कर्मवाद । इन चार सिद्धान्तो मे सभी का प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से समावेश हो जाता है । परन्तु इन चारो मे भी आत्म-वाद मुख्य है, क्योकि सव का केन्द्रभूत आत्मा ही है । आत्मा ही धर्म-अधर्म, क्रिया, कर्म आदि को पहचान सकता है, अतएव शेप तीन वादो की कडियाँ आत्मा के साथ जुडी हुई है ।

'लोक' शव्द की व्युत्पत्ति करते हुए वतलाया गया है कि 'लोक्यते इति लोक' । जो वस्तु अवलोकन मे आ सके उसे लोक कहते हैं । अवलोकन दोनो प्रकार से होता है—इन्द्रियज्ञान से भी और अतीन्द्रियज्ञान से भी । तात्पर्य यह है कि जो वस्तु इन्द्रियज्ञान या अतीन्द्रियज्ञान से जानी जा सके उसे लोक कहते है ।

चक्षु इन्द्रिय से अवलोकन की जाने वाली वस्तु सिर्फ पुद्गल है । जो आँख से दिखाई देता है वह सव पुद्गल अर्थात् प्रकृति है । पुद्गल के अतिरिक्त शेष पॉच द्रव्य अरूपी है, अतएव आँख उन्हे देख नही सकती । मगर ऐसा नियम नही है कि जो पुद्गल है वह अवश्य आँख से दिखलाई दे । पुद्गल जव स्थूल-वादर रूप धारण

करता है तभी वह चक्षुग्राह्य होता है, अन्यथा नही। सूक्ष्म पुद्गल रूपी होने पर भी चक्षुइन्द्रिय के गोचर नही होते।

तो छ द्रव्यो मे से सिर्फ पुद्गल ही चक्षुग्राह्य होता है और पुद्गल मे से भी सिर्फ वादर पुद्गल ही, मगर वादर पुद्गल भी सभी इन्द्रियग्राह्य नही होते। वहुत-से पुद्गल वादर होने पर भी इन्द्रियग्राह्य नही हैं; जो वहुत स्थूल रूप मे होते हैं उन्ही को हमारी आँख देख सकती है।

छ द्रव्य लेश्याओ के, आठ कर्मो के, मनोवर्गणा, भाषा-वर्गणा तथा कार्मणवर्गणा के पुद्गल चौस्पर्शी है। उनमे शीत, उष्ण, लूखा और चीकनापन ही पाया जाता है। यह पुद्गल दीखते नही हैं। आठ पृथिवियों के, घनवात तथा घनोदधिवात के, द्वीप-समुद्रों के, २६ देवलोको के, चार शरीरो के पुद्गल वादरपरिणाम वाले हैं।

आँखो की परिणति स्थूल है। अतएव उनसे सूक्ष्म पुद्गलो का ग्रहण नहीं किया जा सकता। फिर भी यह नही समझना चाहिए कि जो आँखो मे दिखाई नही देता, उसका अस्तित्व नही है। इस विशाल विश्व का अधिकाश भाग चक्षु से अगम्य है। चक्षुगम्य तो वहुत थोडा-सा भाग ही है।

तो जो ज्ञान के द्वारा देखा जाय—जाना जाय, वह लोक है। यद्यपि अलोक भी शुद्ध आकाश के रूप मे केवल-ज्ञान द्वारा जाना जाता है, अतएव उसे भी लोक की सज्ञा प्राप्त होनी चाहिए, तथापि अलोक मे आकाश के अतिरिक्त अन्य कोई द्रव्य नही है। वह खाली आकाश ही आकाश है। उसकी यह विशेषता प्रकट करने के लिए ही उसे अलोक सज्ञा प्रदान की गई है।

लोक चौदह राजू परिमित आकाशखड है। इसमे धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, पुद्‌गल, जीव आदि सब द्रव्य विद्यमान रहते हैं। इसके चारो ओर, ऊपर तथा नीचे अनन्त असीम अलोक आकाश है जो अनादि काल से सूना पडा है और अनन्त काल तक सूना पडा रहेगा। उसमे न कभी किसी अन्य द्रव्य का प्रवेश हुआ है और न हो ही सकता है। धर्मास्तिकाय आदि का वहाँ अभाव होना ही इसका एकमात्र कारण है।

लोक के इस स्वरूप को जानने वाला और प्रकट करने वाला आत्मा ही है। आत्मा न होता तो कौन लोक के स्वरूप को जानता और कौन उसे प्रकट करता ? जानने और प्रकट करने की शक्ति आत्मा के अतिरिक्त किसी भी अन्य द्रव्य मे नही है। आत्मा मे अनन्त ज्ञानशक्ति और अनन्त दर्शनशक्ति है। अनन्त वीर्यशक्ति भी विद्यमान है। आत्मा की ये शक्तियाँ स्वभाव से ही आत्मा मे रहती है, कही बाहर से नही आती। जैसे दूध मे घी और तिलो मे तेल व्याप्त है, उसी प्रकार आत्मा मे दर्शन-ज्ञान चेतना व्याप्त है।

कहा जा सकता है कि अगर आत्मा मे अनन्त ज्ञान दर्शन-शक्ति विद्यमान है तो उसकी प्रतीति क्यो नही होती ? इस प्रश्न का उत्तर प्रकारान्तर से पहले भी दिया गया है, फिर भी सक्षेप मे कहता हूँ।

जैसे चन्द्रमा का प्रकाश मेघो से आच्छादित हो जाता है उसी प्रकार आत्मा की अनन्त ज्ञान-दर्शन-शक्ति कर्म से आच्छादित है—आवृत है। सघन से सघन घन भी जैसे चन्द्रमा के प्रकाश को समूल नष्ट नही कर सकते उसी प्रकार प्रबल से प्रबल आवरण भी आत्मा की ज्योति को सर्वथा नष्ट नही कर सकता। और जैसे तेज

आँधी आने पर बादल बिखर जाते हैं और चन्द्रमा का प्रकाश अपने मूल स्वरूप से चमकने लगता है, उसी प्रकार ध्यान, भावना आदि से आवरण नष्ट हो जाता है और आत्मा की ज्योति स्वाभाविक रूप मे प्रकाशित हो जाती है।

इस प्रकार आत्मा चन्द्रमा के समान है, ज्ञानावरणीय आदि कर्म मेघ के समान है और आत्मा की चेतना चन्द्रमा की चाँदनी के समान है। दोनो मे अन्तर है तो यही कि चन्द्र-प्रकाश भौतिक अर्थात् द्रव्यप्रकाश है और आत्मिक ज्योति भाव-प्रकाश है। चन्द्रमा केवल रूपी पदार्थों को ही प्रकाशित कर सकता है, परन्तु आत्मा के प्रकाश मे रूपी-अरूपी सभी पदार्थ प्रकाशित होते है। चन्द्रमा का प्रकाश द्रव्य-अन्धकार को ही नष्ट कर सकता है, परन्तु आत्मिक प्रकाश भाव-अन्धकार को नष्ट करता है।

अभिप्राय यह है कि आत्मा मे अनन्त ज्ञानादि का अक्षय भडार भरा है। उसे प्राप्त करने के लिए किसी से भीख माँगने की आवश्यकता नही है। आत्मा मे सभी कुछ है। हमे उस भडार पर विश्वास होना चाहिए और उसके बद द्वार को खोलने का पुरुषार्थ करना चाहिए। मगर जब तक जीव को अपने स्वरूप का भान नही होता तब तक वह दूसरो के सामने हाथ पसारता है। यह अज्ञान का ही परिणाम है। वास्तव मे हमे गुणो को ढँकने वाली शक्ति को ही दूर करने की आवश्यकता है।

वस्त्र की शुद्धता—सफेदी, पानी या साबुन मे नही है, वह तो वस्त्र मे ही है। पानी, साबुन साधन मात्र है। थपकी भी साधन मात्र है। ये साधन सफेदी को प्रकट मात्र करते है, उत्पन्न नही करते और न कर सकते हैं।

आज के लोग वस्त्र साफ करना जानते है। उसके लिए नये-नये प्रकार के साबुन, क्षार आदि बनाते है। टिनोपोल आदि कितनी ही वस्तुओ का निर्माण किया है जो वस्त्रो मे सफेदी ला देती है। परन्तु वे वस्त्रो की स्वच्छता मे ही सन्तोष कर बैठे है। आत्मा की स्वच्छता के लिए कोई प्रयास नही करते। आत्मा की शुद्धि किस प्रकार होती है, यह जानने की रुचि भी आज विरलो को ही होती है।

परवस्तु के सम्बन्ध मे आज जितनी शोध-खोज हो रही है, कदाचित् आत्मा के विषय मे भी उतनी होती तो ससार स्वर्ग के समान बन जाता। आत्मशोधन के लिए जिन उच्च और पावन वृत्तियो की आवश्यकता होती है, वे अगर व्यापक रूप मे मनुष्यो मे हो तो जगत् मे परम शान्ति का विस्तार हो जाय।

लोग समझते है कि बाह्यशुद्धि से ही हमारा काम चल जाएगा पर यह उनका निरा भ्रम है। बाह्यशुद्धि से आत्मा की शुद्धि नही होती। उसके लिए तो दूसरे ही प्रकार के प्रयास करने की आवश्यकता है।

शुद्धि दो प्रकार की होती है—द्रव्यशुद्धि और भावशुद्धि। द्रव्यशुद्धि बाहर की सफाई है। जिस मकान मे रहना है वह शुद्ध होना चाहिए। मनुष्य स्वभाव से ही सफाई पसद होता है।

प्रथम क्षेत्रशुद्धि होनी चाहिए। जहाँ गदगी होती है, अशुचि होती है, वहाँ आत्मचिन्तन और स्वाध्याय नही हो सकता। शास्त्र मे असज्झाय के ३४ कारण बतलाये है। शास्त्रीय विधान के अनुसार क्षेत्र शुद्ध न हो तो शास्त्र नही बाँचा जा सकता। सौ-सौ हाथ की दूरी पर अगर पचेन्द्रिय का कलेवर पडा हो तो स्वाध्याय करना

निषिद्ध है । इससे द्रव्यशुद्धि के साथ क्षेत्रशुद्धि की आवश्यकता भी समझी जा सकती है ।

यथोचित विवेकपूर्ण शुद्धि का सदा ध्यान रखना चाहिए । शुद्धि की ओर ध्यान न देने से अनेक प्रकार की बीमारियाँ उत्पन्न हो जाती हैं । उन बीमारियो के प्रतीकार के लिए तरह-तरह की अशुद्ध औषधें लेनी पडती हैं, इजेक्शन लगवाने पड़ते हैं और असख्य जीवो की, जिन मे पचेन्द्रिय जीव भी सम्मिलित हैं, हिंसा करनी पडती है । यह सब अविवेक का परिणाम है । आरम्भ मे ही विवेक से काम लिया जाय तो तन और मन स्वस्थ रह सकता है और बहुत सी हिंसा से भी बचाव किया जा सकता है ।

कई लोग मलीनता मे उत्कृष्टता समझते है । उनका उच्च सयम का यही एक मात्र मापदण्ड बन गया है । परन्तु कहना चाहिए कि ऐसे लोगो ने धर्म के मर्म को हृदयगम नही किया है । जैन धर्म मलीनता का नही, उच्चक्रिया का विधान करता है । और प्रत्येक क्रिया के साथ विवेक को जगाये रखने की आवश्यकता का प्रतिपादन करता है । जिसने धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझ लिया है और जिसके विवेक-नयन सदा खुले रहते हैं, वह कमजोर होगा तो भी आस्रव के स्थान पर सवर का उपार्जन कर लेगा ।

स्वास्थ्यरक्षा के लिए सफाई की अनिवार्य आवश्यकता है । गदगी प्रथम तो कुरुचि उत्पन्न करके मानसिक स्वास्थ्य को भग करती है, दूसरे शारीरिक रोगो को भी उत्पन्न करती है । देखा जाता है कि कई घरो मे यत्र-तत्र गदे पदार्थ बिखरे रहते है, मक्खियाँ भिनभिनाती रहती हैं, बदबू आती है और घर का सारा वातावरण कुरुचिपूर्ण होता है । ऐसे वातावरण मे मानसिक स्वस्थता नही रह

सकती, चित मे समाधि नही रहती और एकाग्र भाव से धर्मसाधना भी नही हो सकती।

इसके अतिरिक्त गदगी मे सर्मूछिम जीवों की उत्पत्ति की सदैव सभावना रहती है और बहुत बार वे उत्पन्न भी हो जाते है, जिसमे हिंसा के पाप का भागी होना पड़ता है। इन सव वुराइयो से वचने का सरल और सीधा उपाय यही है कि गदगी उत्पन्न ही न होने दी जाय। गदगो न होगी तो अनेक पापो से स्वत वचाव हो जायेगा।

क्षेत्र-स्थान-शुद्धि दो प्रकार की होती है—द्रव्यक्षेत्र शुद्धि और भावक्षेत्र शुद्धि। मगर आज द्रव्यक्षेत्र शुद्धि के नाम पर विलासिता का भी पोषण किया जा रहा है। मलीन पदार्थ न होना द्रव्यक्षेत्रशुद्धि है, पर आजकल फर्श ऐसे लगाये जाते हैं कि चलो तो पैर फिसल जाय। सच यह है कि आज शुद्धि की ओर ध्यान नही, फैशन की ओर ही ध्यान है। आज चमकदमक का दौर-दौरा है। मगर आपको साफ समझ लेना चाहिए कि फैशन और शुद्धि, दो अलग-अलग चीज़े है। शास्त्र शुद्धि की हिमायत करता है, चमकदमक का समर्थन नही करता। चमकदमक से विलासवृत्ति की वृद्धि होती है, उससे सात्विकता का ह्रास होता है।

फैशनपरस्ती किसी भी दृष्टि से हितकर नही है। वह चित्त मे अहकार को उत्पन्न करती है। इसके अतिरिक्त उसके लिए खर्च अधिक करना पडता है और खर्च को पूरा करने के लिए अनुचित तरीको से कमाई करनी पडती है।

वास्तव मे देखा जाय तो जीवन निर्वाह के लिए, यदि वह सादगी से परिपूर्ण हो तो, अनीति, अप्रामाणिकता और पापाचार का

सेवन करने की आवश्यकता नही है। अल्प व्यय से ही सादा जीवन सुखपूर्वक यापन किया जा सकता है। परन्तु तडकभडक, बनाव-शृंगार और चमकदमक के चक्कर मे जब मनुष्य पड़ जाता है तो ईमानदारी के साथ कमाई करके अपनी आवश्यकताओ को पूरा नही कर पाता और तब उसे बेईमानी की शरण लेनी पडती है।

आज सर्वत्र अप्रामाणिकता का बाजार गर्म है। क्या सरकारी क्षेत्रो मे और क्या निजी व्यापारिक क्षेत्र मे, प्रामाणिकता प्राय दृष्टिगोचर नही होती। चारो ओर शोर मचा है कि भ्रष्टाचार फैल रहा है! सरकार ने भ्रष्टाचार विरोधी एक पृथक् विभाग खोल दिया है, मगर उसके भ्रष्टाचार का निरोध कौन करे ? फिर भ्रष्टाचार के विरुद्ध आवाज लगाने वाले लोग समय आने पर स्वय भ्रष्टाचार मे प्रवृत्त हो जाते है। वे अपने स्वार्थ की पूर्त्ति के लिए सरकारी कर्मचारियो को रिश्वत देते है और काम निकालते है।

इस सर्वव्यापी भ्रष्टाचार से लोग परेशान है, दुखी हैं। सहज ही कोई किसी पर विश्वास नही करता। देश की नैतिकता का स्तर दिनोदिन गिरता जा रहा है और धर्मप्रधान देश अधर्मप्रधान बनता जा रहा है। इस शोचनीय परिस्थिति के कारणो मे अगर गहरा उतरा जाय तो प्रतीत होगा कि आवश्यकताओ की अनाप-सनाप वृद्धि होना इसका प्रधान कारण है। आवश्यकताओ को अगर सीमित किया जाय और जीवन मे तथा विवाह आदि रीति-रिवाजो मे सादगी को स्थान दिया जाय तो देश की नैतिक गिरावट को बहुत अशो मे रोका जा सकता है। इस सम्बन्ध मे व्यवस्थित और व्यापक आन्दोलन चलाने की आवश्यकता है। पत्तो पर पानी छिड़कने मे वृक्ष हराभरा नही होता, उसकी जडो मे पानी सीचना पडता है। इसी प्रकार समाज की बुराई के मूल को पहचान कर

उसे दूर करने से ही बुराई दूर हो सकती है। परन्तु लोग जड को पहचानते नही और ऊपरी उपचार करते है। इसी से वह उपचार सफल नही हो पाता है।

ज्यो-ज्यो आवश्यकताएँ वढेगी त्यो-त्यो तृष्णा, लोभ, आरभ और परिग्रह भी वढेगा और पाप भी वढ़ेगा। इससे कर्मो का जो वध होगा उसे भोगना कठिन हो जाएगा। अतएव आरम्भ और हिसा को कम करो और इसके लिए जीवन मे सादगी लाओ।

महारभ के पाप से वचने के लिए तीन प्रकार की आवश्यकताओ को सीमित करना चाहिए—भोजन सम्वन्धी, वस्त्र सम्वन्धी और मकान सम्वन्धी। यह ठीक है कि गर्मी-सर्दी से वचाव करने के लिए और साथ ही अपनी वस्तुओ की सुरक्षा के लिए गृहस्थ को घर की आवश्यकता होती है, मगर यह काम तो साधारण मकान से भी हो सकता है। फिर अनावश्यक वड़े-वडे और अनेक मकान खड़े करके सिर पर कर्मो का कर्ज़ क्यो बढा रहे हो? कर्ज चढाना अच्छा नही होता। कहा भी है—

चलना भला न कोस का, वेटी भली न एक।
देना भला न वाप का, साहिव राखे टेक॥

पुत्री पर भी पुत्र के समान ही दृष्टि रखनी चाहिए। पुत्रियाँ न हो तो समाज की गाडी चले कैसे? परन्तु समाज मे आज ऐसे वेढगे रीति-रिवाज चल रहे है, जिससे लोगो को लडकी भार रूप प्रतीत होती है। यह भी एक वडी हिसा है जिसे शीघ्र दूर करने की आवश्यकता है।

कर्जदारी से भी वचना चाहिए। वुद्धिमान् मनुष्य इस वात का ध्यान रखता है कि उसे किसी का ऋणी न होना पडे। कदाचित्

अनिवार्य प्रसग उपस्थित होने पर कर्ज लेना ही पडता है तो वह उसे शीघ्र से शीघ्र चुका देता है ।

हाँ, तो शास्त्रकार कहते हैं कि धर्म विवेक-विचार में है। पुराने समय मे श्रावक सब्जी लाते थे तो वडी यतना से, वस्त्र से ढँक कर लाते थे ताकि उसे देख कर दूसरो को प्रेरणा या उत्तेजना न मिले। आज इतना गहरा विचार किसको है ? लोग दिखा-दिखा कर और सराहना करते हुए लाते है ।

वात यो छोटी-सी मालूम होती है, परन्तु इसके अन्तस्तल मे वहुत अर्थ छिपा है। जो श्रावक ऐसी छोटी वातो मे भी विवेक को विस्मरण न करेगा, वह वडो वातो मे भी विवेक रक्खेगा। असली वात यह है कि श्रावक के समग्र जीवन-व्यापार विवेकपूर्ण होने चाहिएँ। ऐसा तभी सभव है जव प्रत्येक छोटी-मोटी वात विवेक के प्रकाश मे ही की जाय ।

जिसमे विवेक होगा वह शुद्धि और चमकदमक या फैशन-परस्ती के अन्तर को अवश्य समझेगा। वह शुद्धि का आश्रय लेगा, मगर फैशनपरस्ती को प्रश्रय न देगा। चेहरे पर पाउडर पोत कर असली रूप को छिपाना और कृत्रिम रूप धारण करना विवेकहीनता की निशानी है। कइयो के चेहरे तो पाउडर पोतने से ऐसे लगते है, जैसे भूत-भूतनी के चेहरे हो। पाउडर पोतने वालो के प्रति समझदार लोग मन मे घृणा रखते हैं।

स्वाभाविकता को छिपाना प्रकृति को धोखा देना है। प्रकृति से जिसे जो रूप मिल गया है, वह वदलता नही और उसे वदलने की चेष्टा करने से क्या लाभ है ? मनुष्य का मूल्य रूप से नही, सद्गुणों

से है, सदाचार से है, धर्मनिष्ठा से है। जो इस सत्य को समझ लेगा, वह रूप-परिवर्तन की वालसुलभ चेष्टा नही करेगा। पाउडर लगाने से कोई नया रूप उत्पन्न नही हो जाता। पर आज तो यह रोग बहुत फैल गया है। रूपवान् और अरूपवान् दोनो साज सजाते हैं और अपने रूप मे वृद्धि करना चाहते हैं। असली से तृप्ति नही तो नकली से क्या होगी ?

वस्तुत यह सव विवेक के अभाव का परिचायक है। सावुन, पाउडर आदि के उपयोग मे कितनी हिंसा होती है ? करोडो जीवो की हिंसा से ये चीजे वनती हैं। उपासकदशाग शास्त्र मे वर्णित दश श्रावकों के जीवन पर जरा दृष्टिपात करो तो पता चलेगा कि उनका जीवन कितना सादगीमय था। उन्होने आकाश का पानी पीने को रक्खा। सादा क्षौमवस्त्र रक्खा। वे श्रावक कोई साधारण स्थिति के नही थे। उनके पास करोड़ो स्वर्ण-मोहरे थी, पाँच-पाँच सौ हलो से खेती होती थी, साठ हजार या अस्सी हजार जितनी एक-एक के पास गाये थी। उनकी ऋद्धि की तुलना मे तुम्हारी ऋद्धि किस गिनती मे है ? क्या तुम उनसे भी आगे वढ़ गए हो ? जव कोई याचक या दीन-दुखी सामने आ जाता है और उसकी सहायता करने का प्रसग उपस्थित होता है तो वुखार-सा चढ जाता है, परन्तु विलास मे खर्च करते तनिक भी सकोच नही होता !

अरे क्या रक्खा है इस पाउडर मे ! एक वार पसीना आया और धुल गया। आखिर कव तक इस चमड़ी की पूजा करते रहोगे ? कितने दिनो तक इसे सजाओगे ? अनावश्यक वस्तुओ को भोगना पाप की वृद्धि करना है। ठीक है कि भोजन, वस्त्र और मकान के विना काम नही चलता। यह जीवनोपयोगी वस्तुएँ हैं। मगर जिन

वस्तुओ का जीवन के साथ कोई सम्बन्ध नही है, जिनके विना जीवन वखूबी चल सकता है, उनका उपयोग करके क्यो पाप वोझा वढाते हो ? सादगी सभी दृष्टियो से लाभदायक है। उसी मे जीवनी शक्ति निहित है। दूर क्यो जाते हो, गाँधी जी का ही विचार करो। कितना सादा और मर्यादित था उनका जीवन ? उन्होने वैरिस्टर हो कर भी लगोटी लगाई थी। परन्तु इस सादगी से उनका मान वढा ही, घटा नही। उनकी अन्तरात्मा मे शृगार था —वह त्याग, परोपकार, सेवा आदि सद्गुणो से विभूषित थे। गरीवो के प्रति उन्हे गहरी सहानुभूति थी। उनकी समग्र शक्तियाँ परोपकार के लिए थी। उनके जीवन मे न तो कोई वनावट थी, न दिखावट थी, न चमकदमक थी। उनकी मृत्यु पर सातो विलायतो के झडे झुक गये थे। आज वह हमारे वीच मे नही रहे, मगर क्या उनका यश भी नही रहा ? भारत को स्वाधीन वनाने वाले उस महात्मा की कीर्ति युग-युग तक जीवित रहेगी। भारतवासी उसे भूल नही सकते। वह आज भी भारत के वच्चे-वच्चे के हृदय मे वसा हुआ है।

अगर गाँधी जी अन्य साधारण वैरिस्टरो की भाँति ही रहे होते, चमकदमक के शिकार हो गये होते और भोग विलास के कीचड मे फसे रहते तो क्या दुनिया की जो श्रद्धा उनके प्रति है, वह उत्पन्न हुई होती ? कदापि नही। आज उनका जो भी महत्त्व है, वह उनके त्याग और सादे जीवन का ही फल है। इसी कारण प्राय आज सारी दुनिया उनको जानती है, मानती है और उनकी जय वोलती है।

एक वार हम देहली से कुतुव जा रहे थे। एक अनजान आदमी ने हमे महात्मा गाँधी समझ लिया। वह भागा-भागा आया

और अत्यन्त नम्रता से कहने लगा—बहुत दिनो से मेरी अभिलाषा थी कि गान्धी जी के दर्शन करूँ। आज आपके दर्शन करके कृतार्थ हुआ।

यह सुन कर मैंने उसे बतलाया—मैं गान्धी जी नही, जैन साधु हूँ और दया करना मेरा भी कर्त्तव्य है।

अनेक लोग सामने से निकलते है, परन्तु कोन किसकी तरफ देखता है? कोई आँख उठाकर भी नही देखता। मगर जिस व्यक्ति के दर्शन के लिए लाखो तरसते हैं और दूर-दूर से चल कर आते है, उसमे कोई महत्ता अवश्य है। वह महत्ता विलासमय जीवन व्यतीत करने से नही आती, वल्कि सादगी, त्याग, परोपकार और सेवाभाव से आती है।

इस प्रसंग मे एक बात ध्यान देने योग्य है। एक देश की राजनीतिक आजादी प्राप्त करने के लिए जब इतना त्याग करना आवश्यक है तो अनादिकालीन कर्मबन्धन से मुक्ति पाने के लिए और आध्यात्मिक स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए कितने त्याग की आवश्यकता न होगी?

इस शरीर को चाहे जितना सहेजो, सजाओ, पुष्ट करो, आखिर तो इसका अन्त अवश्यम्भावी है। यह जानते हुए भी जो नाशवान् शरीर के लिए इतना समय और धन खर्च करते है और आत्मा के कल्याण की ओर तनिक भी ध्यान नही देते, उन्हे क्या कहा जाय? शाश्वत वस्तु की उतनी उपेक्षा विवेकवान् नही करते।

जो लोग आत्मतत्त्व से विमुख है, वही तडकभडक मे पडते है। उनको तडकभडक न केवल उन्ही के लिए वरन् औरो के लिए

भी हानिकर सिद्ध होती है। ऐसे लोग जब बाजार मे निकलते हैं तो दूसरो की दृष्टि में विकार उत्पन्न करते हैं। उनका ढग काम-विकार बढाने वाला होता है।

आशय यह है कि हमारा जीवन सादा होना चाहिए। आज अधिकाश बहिने अकेली उपाश्रय या बाजार मे जाने मे डरती हे। परन्तु क्या कभी सोचा है कि इसका क्या कारण है? मेरे खयाल मे इस परिस्थिति को उत्पन्न करने मे बहुत बड़ा हाथ बहिनो का ही है। उन्होने अपनी स्वतन्त्रता के साधन गँवा दिये और सादे रहन-सहन का त्याग कर दिया है। बहिने इतनी अधिक टीपटाप करती है कि बलात् दूसरो का ध्यान उनकी ओर आकर्षित होता है। इस शृगार और बनाव का दूसरा उद्देश्य ही क्या हे? इस प्रकार बहिने अपनी मूर्खता के कारण स्वय ही अपने लिए काँटे बिखेरती है। दूसरो पर दोषारोप करने का उन्हे क्या अधिकार है?

सादा जीवन वालो, सदाचारिणो, पतिव्रता साध्वियाँ कही भी जा मकती है। अगर उनके रहन-सहन एव वेपभूपा मे सादगी और संयम है तो उनकी ओर आँख उठा कर देखने की भी हिम्मत नही हो सकती। कदाचित् कोई विपयकीट देखने की हिम्मत भी करे तो वह देवी उसे भी सही राह पर ला सकती है। प्रकाश दे सकती है। इतिहास साक्षी है कि अतीत मे अनेक स्त्रियों ने पुरुषो को प्रकाश दिखलाया है। योग को तिलाजलि देकर भोग की कीचड में फसने को उद्यत हुए रथनेमि को साध्वी राजीमती ने प्रकाश दिया था, यह बात जैनशास्त्रो मे प्रसिद्ध है। सतीधर्म ने उसे जागृत कर दिया। योगी अपने पथ से विचलित हुआ और सती उसे सन्मार्ग पर ले आई।

इसी प्रकार एक नागला नाम की पतिव्रता स्त्री का पति साधु बन गया था। नागला ने अपने मन पर पूरा काबू रक्खा और सोचा—पति के दीक्षित होने से मुझे सहज ही ब्रह्मचर्य पालने का अवसर मिला। भोगकाल मे नौ लाख सज्ञी और असख्यात असज्ञी जीवो की होने वाली हिसा बच गई।

सज्जनो! उसी नागला का पति जो साधु बना था, वह पिछले मोहकर्म के उदय से नागला से प्रेम-पोषण करने के लिए जब फिर लौट कर घर आया तो सती नागला ने उसे समझा कर साधुव्रत मे दृढ कर दिया।

ऐसी-ऐसी सन्नारियाँ इस देश मे अनेक हो गई है। सतियो और पतिव्रताओ का यह देश आज किस ओर जा रहा है? बेहद बढती हुई विलासवृत्ति इस देश की नारियो को कौन जाने कहाँ ले जाएगी!

इस दुर्दशा का मुख्य कारण आत्मविकास की ओर ध्यान न देना है। आज कदाचित् कोई भाग्यवान् दीक्षा लेने को तैयार होता है तो उसकी सराहना करना और सहायक होना तो अति दूर रहा, लोग उल्टे उसमे बाधक बनते है। उसे बहकाने मे, डराने मे भी कसर नही रखते। सज्जनो! आपको साधु चाहिए। साधुओ के बिना साधुमार्गियो का काम कैसे चल सकता है? आप स्वय कहते है कि साधुओं की परम्परा के बिना हमारे धर्म की परम्परा नही चल सकती। स्थानकवासियो को एकमात्र साधु ही सहारा है। इतना मानते हुए भी और साधु जीवन को उच्च, पवित्र और स्पृहणीय समझते हुए भी परीक्षा के समय अनुत्तीर्ण हो जाते हो। अगर आपका लड़का दीक्षा लेने को तैयार हो जाय तो क्या आप उसके

वैराग्य की सराहना करके दीक्षा लेने की अनुमति देंगे ? नही, आप सभी सभव उपाय करके उसे दीक्षा से विरत करना चाहेंगे । यही नही, जिस सन्त के सन्निकट वह दीक्षित होना चाहता होगा, उसे आप शत्रुवत् समझने लगेंगे । शासन का सहारा लेकर भी दीक्षा को रोकना चाहेंगे ।

आज जब आप लोगो की ऐसी मनोवृत्ति है तो विचार करना चाहिए कि जब न आप साधु बनते हैं, न आत्मीय जनो को साधु बनने देना चाहते है, फिर भी साधुओ का होना चाहते है तो क्या साधु स्वर्ग से पार्सल बन कर आ जाएँगे ? औरो की तो जाने दीजिए, कितनेक भक्त तो उनके नौकर को भी यदि वैराग्य आ जाय तो उसे अन्तराय किये बिना नही रहते ।

जिनके पाँच-पाँच पुत्र है, वे एक पुत्र जिनशासन की सेवा के लिए और अपने परमकल्याण के लिए समर्पित कर दे तो क्या हुआ जाता है ? मैं अपने लिए नही चाहता, सघ के लिए समर्पित करने को कह रहा हूँ ।

प्रथम तो कोई साधु बनने को तैयार नही होता, कदाचित् क्षयोपशम की विशिष्टता हुई और कोई तैयार हो गया तो दूसरे बाधक बन जाते है । मै जब दीक्षा लेने को उद्यत हुआ तो कइयो ने मुझे बहकाया और कहा—तुम साधु मत बनो !

धर्म से हटाने को बहुत तैयार हो जाते है, किन्तु इस शुभ कार्य की प्रेरणा देने वाला तो कोई भाग्यवान् होता है ।

मुझे गुरु जी ने एक मत्र सिखा दिया था कि किसी को उत्तर न देना । इस मत्र को कहते हैं मौन ! कहावत है 'एक मौन सौ को हरावे' । मुझे लोग ऐसा कह कर बहकाते कि तुम साधु बन कर जो

धर्म करोगे, उसे जिनकी रोटी खाओगे, कपडा पहनोगे, वे ले जाएगे, तुम खाली के खाली रह जाओगे। किन्तु मेरे मौन के आगे सव हार जाते थे। सज्जनो ! आटे मे मोन डालने से वूढे भी आराम से रोटी खा सकते हैं। पाप के काम मे मौन रखने से धर्म की वृद्धि होती है।

गुरु महाराज का मेरे हृदय पर गहरा प्रभाव पडा। उन्होने स्वय भी तीव्र और उग्र वैराग्य से दीक्षा अगीकार की थी। उन्हे राजा ने समझाने का प्रयत्न किया पर वह उनके अटल निश्चय को वदलने मे समर्थ न हो सका। वे सगाई को छोड कर दीक्षित हुए थे। वडे ही चरित्रशील और भद्र थे। स्त्रीपरिचय से वहुत दूर रहते थे। दर्शनार्थ आने वाली वाइयो को झट मागलिक सुना दिया करते थे और दुनियादारी की झझटो से सदेव वचे रहते थे। आत्मसाधना मे ही सदा मग्न रहते थे।

स्त्रियो का सम्पर्क साधक के लिए कदापि हितकर नही होता। व्याख्यान के समय अथवा शास्त्रवाचना के समय वे लाभ लेना चाहे तो भले ले और लेना भी चाहिए, परन्तु दूसरे समय मे साधु के पास आकर वेठने की आवश्यकता नही है। सेठ दुकान चले जाएँ और वाइयाँ खा पीकर वाते करने के लिए साधु के पास जा वैठे, यह ठीक नही। अधिक सगति का परिणाम अवाछनीय होता है।

तो धर्म को दिपाने के लिए त्याग-वैराग्य चाहिए। आपको यह नही सोचना चाहिए कि हम सेठ है, कैसे दीक्षा लेवे ? प्राचीन काल मे चक्रवर्त्तियो ने भी दीक्षा ली है। सयममय जीवन यापन करने मे ही विवेक की और मनुष्य-जन्म की सार्थकता है। अभी

आप जल्दी कह देते हो कि—'पजावथी साधु मोकलो ।' लेकिन क्या पजाव मे श्रोता नही है ? क्या पजावी ही साधु वनने के योग्य हैं ? आपको अपने प्रान्त की आवश्यकता स्वयं पूर्ण करनी चाहिए। वाहर की पूंजी से कव तक काम चलाओगे ? वाहर से अनाज मँगा-मँगा कर भारत करजदार होता जा रहा है। अमेरिका, कनाडा या आस्ट्रेलिया का गेहूँ मँगाना क्या भारत के लिए गौरव की वात है ? अपने देश की वस्तु ही अधिक अनुकूल होती है। परिश्रम कोई और करे तथा फल कोई और भोगे, यह स्थिति इस युग मे लम्बे समय तक नही चल सकती। इस वर्ष तो उपाचार्य श्री और कान्फरेंस की प्रेरणा से आप लोग मुझे इधर ले आए हो, पर इस तरह सदैव काम नही चलेगा। आपको यही पर सौराष्ट्र में साधु तैयार करने चाहिएँ। अगर आपके घर का कोई व्यक्ति साधु वनता है तो आपको प्रसन्नता होनी चाहिए कि आपका कुल पवित्र हो गया। स्वय भी इस पवित्र जीवन की आकाक्षा करनी चाहिए। सच्चा श्रावक वही है जो प्रति-दिन साधु वनने की भावना करता है। श्रावक के तीन मनोरथो मे यह भी एक मनोरथ है। कहा है—

कव आएगा वह दिन कि वनू साधु विहारी ?

श्रावक देशत्यागी होता है और पूर्ण त्याग की अभिलाषा रखता है। जव पूर्ण त्याग का अवसर मिलता है तो अपने भाग्य को धन्य समझता है। इसी प्रकार अगर उसका कोई आत्मीय जन आत्मकल्याण के लिए उद्यत होता है तो भी उसे प्रसन्नता होती है। जिसके अन्त.करण मे सच्ची धर्मभावना है, वह किसी की धर्मसाधना में वाधक नही वन सकता।

धर्म मात्र वातें करने से नही होता। ऐसे-ऐसे महापुरुष हुए

है, जिन्होने धर्म के लिए प्राणो को भी तुच्छ समझकर त्याग दिया। धर्मसिह जी महाराज के सम्प्रदाय के एक साधु ने अति भयकर रोग के कारण धारा नगरी मे, जहाँ प्रसिद्ध साहित्य-प्रेमीराजाभोज हुआ है, जीवनपर्यन्त का सथारा किया, अर्थात् जीवनपर्यन्त खाने पीने का तथा शरीर के ममत्व का परित्याग कर दिया। सथारा करने के पश्चात् धीरे-धीरे उसका रोग दूर हो गया। भूख जागी और बढी। साधु ने वहुत सहन की भूख की पीडा, परन्तु अन्त मे कहा—अब मुझसे नही रहा जाता।

द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि देख कर सथारा किया जाता है। 'वोसिरामि वोसिरामि' कह देना साधारण वात नही है। उसमे वहुत वडी जिम्मेवारी है। यावज्जीवन अन्न का त्याग करके कोई डिग जाय और चिल्लाने लगे तो धर्म की निन्दा होती है।

हाँ, तो धर्मसिह जी महाराज ने उस मुनि को वहुत समझाया कि त्याग से विचलित होना कायरता है, परन्तु वह न माना। तव उन्होने कहा—अच्छा, उठो, आसन खाली करो।

दूसरे साधुओ को उन्होने आदेश दिया—'इसे सभालना और धर्म की अवहेलना न होने देना।'

यह कह कर धर्मसिहजी महाराज ने उस साधु का स्थान ग्रहण कर लिया। धर्म की प्रभावना के लिए स्वय सथारा ग्रहण कर लिया।

इसे कहते है धर्म के लिए प्राणो का उत्सर्ग। महान् पुरुष के लिए धर्म जीवन से वहुत अधिक मूल्यवान् होता है। इस प्रकार प्राणो का उत्सर्ग करके धर्म की रक्षा की जाती है।

धर्म की रक्षा और प्रभावना के लिए साधुओ ने ही कष्ट सहन किये हो और श्रावको ने कुछ न किया हो, ऐसी बात नही है। अरणक और कामदेव के समान श्रावक भी हो गये है, जिन्होने प्राणो का मोह त्याग कर भी अपने धर्म पर दृढ़ आस्था रक्खी। ऐसे धर्म-वीर साधुओ और श्रावको की बदौलत ही धर्म की रक्षा और प्रभावना हुई और वह सूर्य की भाँति चमका है। मैं चाहता हूँ कि त्याग और निस्पृहभाव की वह परम्परा अक्षुण्ण बनी रहे, धर्म का कल्पवृक्ष हराभरा बना रहे और जगत् के संतप्त जीवो को शान्ति प्रदान करता रहे। धर्म के सिवाय जगत् के लिए अन्य कोई आधार नही है। परन्तु उसकी रक्षा का भार उन पर है जो धर्म की महिमा को जानते हैं। धर्म की रक्षा करना मलाई का लड्डू खाना नही है, लोहे के चने चबाना है।

धर्म की प्रतिपालना और रक्षा के लिए उदात्त और पवित्र भावना अपेक्षित है। भावना की उत्पत्ति मे अनुकूल द्रव्य, क्षेत्र, काल अपेक्षित होते है।

क्षेत्रशुद्धि के सम्बन्ध मे कहा जा चुका है। उसका अर्थ यही है कि धर्मसाधना का स्थान मल-मूत्र आदि अशुचि पदार्थो से अपावन नही होना चाहिए। साथ ही ऐसा होना चाहिए, जहाँ चित्त मे विक्षेप उत्पन्न करने के कारणो का अभाव हो। साधना के लिए चिन्तक एकान्त पसन्द करते है। अगर स्थान अनुकूल होता है तो वर्ष की सफलता मास मे मिल जाती है। मनुष्य के चित्त पर वातावरण का गहरा प्रभाव पड़ता है।

भावशुद्धि में चित्त की पवित्रता मुख्य है। जब भाई या बहिने

धर्मस्थानक मे प्रवेश करे तो अन्त करण को सब प्रकार के विषय-विकार से पृथक् करके पवित्रता के साथ प्रवेश करें। भावना की शुद्धि के लिए चटक-मटक से दूर रहना चाहिए। धर्मस्थान आत्मिक ज्योति जगाने का पावन स्थल है, कोई सिनेमा हॉल अथवा नाटकघर नही है। प्रदर्शिनी की जगह भी नही है। धर्मस्थानक के लिए आरम्भ बढाना अच्छा नही। वहाँ फोटो, झाड-फानूस आदि नही होने चाहिएँ। धूमधाम नही चाहिए। आप घर से आत्मसाधना करने के लिए स्थानक मे आते है, यह सोच कर कि वहाँ शान्ति होगी, गडबड न होगी, परन्तु वहाँ भी अगर वैसी ही अशान्ति हो तो धर्म स्थानक की क्या विशेषता रही! जहाँ जोरो से गाना गाया जाता है, घटा बजाया जाता है, बाजो की ध्वनि से वातावरण गूँजता रहता है और कोलाहल मचा रहता है, वहाँ शान्ति कहाँ? एकाग्रता कहाँ?

पजाब के एक गाव मे हम प्रतिक्रमण करके चुके ही थे कि जोर जोर से घण्टा बजने की कर्कश ध्वनि कर्णगोचर हुई। मैने पूछा—यह क्या है? तब एक भाई ने बतलाया—ठाकुर जी को शयन करा रहे है।

मैंने सोचा—ठाकुर जी क्या कोई बच्चे है, जिन्हे सुलाने की आवश्यकता होती है? फिर सोने के समय तो शान्ति चाहिए। घटा बजा कर सुलाने की बात कुछ समझ मे नही आई। नीद न उडे तो घटा बजा कर जगाने की बात समझ मे आ सकती है, मगर सुलाने के लिए घण्टा बजाना ठाकुर जी को ही मुबारिक हो।

ठाकुर जी का अर्थ अगर भगवान् है तो उन्हे निद्रा नही आ

सकती। निद्रा दर्शनावरणीय कर्म के उदय का फल है और भगवान् दर्शनावरणीय कर्म का क्षय कर चुके है। जो भगवान् इतना भोला है कि न स्वय सो सकता है और जाग सकता है, वह तुम्हारा क्या भला करेगा ? ऐसे भगवान् से तो उसके भक्त ही अधिक होशियार ठहरे।

अभिप्राय यह है कि धर्मसाधना का स्थान ऐसा होना चाहिए जहाँ चित्त मे चचलता पैदा करने का कोई कारण न हो, किसी प्रकार का कोलाहल आदि न हो और न विलासवर्धक सामग्री हो।

कालशुद्धि भी अपेक्षित है। सामायिक आदि का समय नियत होना चाहिए। मिश्री को जब मुख मे डालो तभी मिठास देती है। इसी प्रकार सामायिक भी किसी भी समय मे की गई लाभदायक ही होती है। परन्तु नियमितता की दृष्टि से ज्ञानियो ने उसका समय बाध दिया है। प्रात काल का समय इसके लिए सर्वोत्तम है। उस समय चित्त शान्त होता है। प्रातकालीन चिन्तन से अवधिज्ञान, जातिस्मरण आदि विशिष्ट ज्ञान की भी प्राप्ति हो सकती है। पर जो आलसी साढे आठ बजे तक सोया पडा रहता है वह क्या आत्मचिन्तन करेगा।

कई लोग दुकानदारी का धधा करते-करते जब थक जाते है तब सामायिक करते हैं। वे थकावट दूर करने को धर्मस्थान मे आते हैं। इससे प्रतीत होता है कि सामायिक के प्रति जैसा आदरपूर्ण दृष्टिकोण होना चाहिए, वैसा नही है। दस हजार की जैन जनसख्या वाले आपके राजकोट नगर मे एक हजार भी नियमित सामायिक करने वाले शायद ही हो। अलबत्ता पर्युषण के दिनो मे प्राय आप सब आते है परन्तु मनोविनोद और हसी-दिल्लगी को छोडकर गभीर

एव शान्त भाव से साधना करने वाले उनमे विरले होते है। परन्तु चेतावनी दे देना अनुचित्त न होगा कि मेरी उपस्थिति मे इस प्रकार की हरकते नही सहन की जा सकेगी। यह धर्मस्थान है। यहाँ ठीक तरह इन्द्रियों पर और मन पर सयम रखना होगा।

धर्म के लिए आठ दिन हैं और शेप दिनो मे आप लोग दुनिया के धधो मे लगे रहते है। इन आठ दिनो मे भी अगर गभीरता के साथ धर्माराधना नही की तो फिर कब करोगे ? कैसे जीवन को सफल करोगे ?

धर्मसाधना के बिना सभी साधनाए निरर्थक हैं। धर्मसाधना मे सामायिक का प्रधान स्थान है,परन्तु भावना उत्तम और प्रशस्त होनी चाहिए। सामायिक के समय मे वैराग्यवर्द्धक, भक्तिरस से परिपूर्ण या आध्यात्मिक साहित्य का वाचन करना योग्य है। जिनमे स्त्रीकथा आदि विकथाए हो ऐसी पुस्तको को पढना कभी भी हितकर नही है, विशेषत सामायिक के समय तो गदा साहित्य पढना ही नही चाहिए। गदा साहित्य दिमाग मे विषाक्त कीटाणु उत्पन्न कर देता है। उसका जीवन पर बडा बुरा प्रभाव पडता है।

तात्पर्य यह है कि आपको अपना जीवन धर्मसाधना मे व्यतीत करना चाहिए। भगवान् ने जीवन की सफलता का रहस्य धर्मसाधना मे ही बतलाया है। जो आत्मिक गुणो का विकास करना चाहता है, उसे मन को केन्द्रित करके प्रभु के गुणो का गान और स्मरण करना चाहिए।

प्रभु का गुणगान करते समय चित्त एकदम शान्त और-प्रभु-मय हो जाना चाहिए। उस समय किसी भी प्रकार की लौकिक

कामना या विषयविकृति नही होनी चाहिए। जब चित्त पूर्णत: स्वस्थ और निर्विकार होता है, तभी उसमे धर्म का अकुर उगता है।

इस प्रकार विचार कर आप अपने चित्त को शान्त करें, स्वस्थ करे, पवित्र करे, एकाग्र करे, प्रभुमय करे, तन्मय करे, चिन्मय करे और सब प्रकार की वासनाओ से रहित करें। ऐसा करने से आपका बेड़ा पार हो जाएगा। आप ससार-सागर के उस तीर पर पहुँच जाएगे जहाँ से लौट कर फिर जन्म-मरण के चक्र मे नही पडना पड़ता।

राजकोट
२२-८-५४